वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
स्वामी विवेकानन्द का
१५०वाँ जन्मवर्ष
वर्ष ५१ अंक २
फरवरी २०१३
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २०१३

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द
सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक २

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छतीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५१ फरवरी २०१३ अंक २

पुरखों की थाती

क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातम् अनित्यता ।
धात्रीव, जननी पश्चात्, तदा शोकस्य क: क्रम:?२४६

– 'पैदा होते ही दाई के समान पहले अनित्यता ही प्राणी को गोद में लेती है, माता तो उसे बाद में सँभालती है। तब फिर इस शरीर के विषय में शोक करने की क्या जरूरत?'

क्रोधस्य कालकूटस्य विद्यते महद्-अन्तरम् ।
स्वाश्रयं दहति क्रोध: कालकूटो न चाश्रयम् ।। २४७

– क्रोध जहर से भी खतरनाक है; क्योंकि जहर जिसके पास रहता है, वह अपने उस आश्रयदाता की कुछ हानि नहीं करता, जबकि क्रोध अपने आश्रयदाता को ही जला देता है।

क्रोधो हि शत्रु प्रथमो नराणां
देहस्थितो देह-विनाश-नाम ।
यथा स्थित: काष्ठगतो हि वह्नि:
स एव वह्नि: दहते शरीरम् ।।२४८।।

– जैसे लकड़ी में रहनेवाली अग्नि उसके शरीर को जला देती है, वैसे ही क्रोध मनुष्य का प्रधान शत्रु है, जो उसके भीतर रहकर उसे जला देता है।

क्वचित् विद्वद्गोष्ठी क्वचित् अपि सुरामत्तकलह:
क्वचित् वीणावाद्यं क्वचित् अपि च हा हेति रुदितम्
क्वचित् रामा रम्या क्वचित् अपि जराजर्जरतनु:
न जाने संसार: किं अमृतमय: किं विषमय: ।। २४९

– व्यक्ति को कभी तो विद्वानों का संग मिलता है, तो कभी उसे सुरा पीकर उन्मत्त झगड़नेवाले लोगों के बीच रहना पड़ता है; कभी तो व्यक्ति को वीणा आदि का मधुर संगीत सुनने को मिलता है, तो कभी 'हाय-हाय' करते हुए रोते हुए लोगों में रहना पड़ता है; कभी उसे सुन्दर लोगों के बीच में रहने को मिलता है, तो कभी बुढ़ापे से जर्जर तनवाले लोगों के बीच; समझ में नहीं आता कि यह संसार अमृतमय है या विषमय !

क्वचित् पृथ्वीशय्य: क्वचिदपि च पर्यङ्कशयन:
क्वचिच्छाकाहार: क्वचिदपि च शाल्योदनरुचि: ।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु:खं न च सुखम् ।।५०

– कार्य को पूरा करने का इच्छुक धीर व्यक्ति (परिस्थिति के अनुसार) कभी धरती पर सोता है, तो कभी पलंग पर; कभी वह कन्द-मूल खा लेता है, तो कभी अच्छे चावल का आस्वादन करता है; कभी वह गुदड़ी पहन लेता है, तो कभी श्रेष्ठ वस्त्र धारण करता है। वह अपने मार्ग में आनेवाले दुख या सुख की परवाह नहीं करता। (नीति-शतकम्)

कुरंग-मातंग-पतंग-भृंग-मीना हता: पंचभिरेव पंच ।
एक: प्रमादी स कथं न हन्यते य: सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ।।

– हिरण बहेलिये का संगीत सुनने आकर मारा जाता है; हाथी स्पर्श सुख की इच्छा से गड्ढे में गिर जाता है, पतंगा दीपशिखा के सुन्दर रूप के लिये जल मरता है, भौंरा रस के लोभ में कमल के भीतर बन्द होकर प्राण खो बैठता है, मछली वंशी में लगे मांस के टुकड़े के लोभ में काँटे में फँसकर प्राण दे देती है। जब इन जीवों का एक-एक विषय के लोभ से ही प्राणान्त हो जाता है, तो पाँचों विषयों के पीछे दौड़ने वाले मनुष्य के कष्टों का तो कहना ही क्या? (विवेक-चूडामणि)

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ।।२५२।।

– शत्रुओं तथा मित्रों पर समान रूप से दया करना साधुओं को ही शोभा देता है, परन्तु राजा यदि अपराधियों पर दया करे, तो यह उसका दोष ही माना जाएगा। ❖ **(क्रमश:)** ❖

रामकृष्ण-प्रार्थना

– १ –

(केदार-कहरवा)

नहीं जगत् में अपना कोई, लगे परायी दुनिया सारी,
इसीलिये तो आया ठाकुर
सबको तजकर शरण तुम्हारी ।।१।।

शक्ति न तन में, भक्ति न मन में,
आशा की न किरण जीवन में,
जग में सदा यही लगता है,
भटक रहे, ज्यों दीन भिखारी ।
इसीलिये तो आया ठाकुर
सबको तजकर शरण तुम्हारी ।।२।।

अगणित पापी-तापी तारे,
हम भी बैठे आस तुम्हारे,
लिये हुए हैं अपने सिर पर,
त्रिविध ताप का बोझा भारी ।
इसीलिये तो आया ठाकुर
सबको तजकर शरण तुम्हारी ।।३।।

– २ –

(कलावती-त्रिताल)

दया करके, प्रभो हमको,
चरण में आसरा देना ।
हमारी दोष-त्रुटियों को,
सहजता से भुला देना ।।१।।

हमारे ध्यान में आओ, हमारे दिल में बस जाओ,
हमारी रूह में निज ज्ञान का, दीपक जला देना ।।२।।

हमारा कर्म तव पूजन, हमारा धर्म तव चिन्तन,
पिता-माता हमारे हो, हमें अमृत पिला देना ।।३।।

विदा जब हों यहाँ से हम, यहीं पर छोड़ खुशियाँ-गम,
अलौकिक लोक में अपने, हमें फिर से जिला देना ।।४।।

– विदेह

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

न्यूयार्क, २५ अप्रैल १८९५ : इस समय मेरे लिए 'ग्रीनएकर' जाना असम्भव है। 'सहस्रद्वीपोद्यान' (Thousand Island Park) जाने की मैं व्यवस्था कर चुका हूँ – चाहे वह स्थान कहीं भी क्यों न हो। वहाँ पर मेरी एक छात्रा कुमारी डाचर की एक कुटिया है। अपने कुछ साथियों के साथ वहाँ एकान्त में रहकर मैं शान्तिपूर्वक विश्राम लेना चाहता हूँ। मेरे 'क्लास' में जो-जो लोग शामिल होंगे, उनमें से कुछ को मैं योगी बनाना चाहता हूँ। 'ग्रीनएकर' जैसा कर्मव्यस्त मेले जैसा स्थान इसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है; जबकि यह दूसरा स्थान (सहस्रद्वीपोद्यान) बस्ती से दूर होने के कारण, मात्र कौतुक एवं आनन्दप्रिय लोग वहाँ पहुँचने का साहस नहीं करेंगे।

मैं बड़ा आनन्दित हूँ कि ज्ञानयोग की 'कक्षा' में जो लोग शामिल होते थे, कुमारी हैमलिन ने ऐसे १३० व्यक्तियों के नाम लिख रखे हैं। इसके अलावा ५० व्यक्ति बुधवार के दिन योग की 'कक्षा' में और प्रायः ५० व्यक्ति सोमवार की 'कक्षा' में भी शामिल होते थे। श्री लैंड्सबर्ग ने सब नाम लिख रखे थे – चाहे नाम हो या न हो, वे लोग सभी शामिल होंगे। श्री लैंड्सबर्ग मुझसे अलग हो गये हैं, पर उन नामों को यहीं मेरे पास छोड़ गये हैं। वे सभी शामिल होंगे – और यदि न भी हों, तो और लोग आयेंगे। अतः कार्य इसी प्रकार चलता रहेगा – सब प्रभु की महिमा है !!

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाम लिख रखना तथा सूचना देना – एक बड़ा भारी कार्य है और इस कार्य को करने के लिए मैं उन दोनों का अत्यन्त आभारी हूँ। पर मैं भलीभाँति जानता हूँ कि दूसरों पर निर्भर रहना केवल मेरे अपने आलस्य का फल है, इसलिए अनुचित है और आलस्य के द्वारा सदा अनिष्ट ही हुआ करता है। अतः उन कार्यों को अब मैं स्वयं कर रहा हूँ तथा आगे भी सब कुछ स्वयं ही करता रहूँगा।... तथापि कुमारी हैमलिन के 'उचित' व्यक्तियों में से किसी भी एक को अपने साथ शामिल करने में मुझे प्रसन्नता ही होगी; पर दुर्भाग्य की बात यह है कि अभी तक ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं आया। अत्यन्त 'अनुपयुक्त' व्यक्तियों में से 'उपयुक्त' का निर्माण करना ही सदा से आचार्य का कर्तव्य रहा है। मूल बात यह है कि यद्यपि मैं कुमारी हैमलिन का अत्यन्त आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने न्यूयार्क के 'उपयुक्त' व्यक्तियों के साथ मेरा परिचय करा देने की आशा तथा उत्साह प्रदान किया था तथा यथार्थ रूप से मेरे कार्यों में सहायता भी की थी, फिर भी मैं यह उचित समझता हूँ कि मेरा जो भी कुछ थोड़ा-बहुत कार्य है, उसे स्वयं सम्पन्न करना ही ठीक है। ...

कुमारी हैमलिन के बारे में आपकी (श्रीमती ओली बुल) धारणा बहुत ऊँची है – इससे मैं आनन्दित ही हूँ। आप उनकी सहायता करना चाहती हैं जानकर, अन्य लोगों को प्रसन्नता हुई हो या नहीं, मुझे तो विशेष प्रसन्नता हुई; क्योंकि उन्हें सहायता की आवश्यकता है। किन्तु माँ, श्रीरामकृष्ण की कृपा से किसी व्यक्ति के चेहरे की ओर देखते ही मैं अपने स्वाभाविक संस्कार के द्वारा तत्काल ही यह भाँप लेता हूँ कि वह व्यक्ति कैसा है और मेरी धारणा प्रायः ठीक हुआ करती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आप मेरे किसी भी कार्य की चाहे जैसी मनमानी समालोचना क्यों न करें, उससे मुझे कुछ भी असन्तोष न होगा। मुझे कुमारी फार्मर की सलाह लेने में भी बहुत प्रसन्नता होगी – चाहे वे कितनी ही भूत-प्रेतों की बातें क्यों न कहें। इन भूत-प्रेतों के आवरण के पीछे मुझे एक अगाध प्रेमपूर्ण हृदय देखने को मिल रहा है। उस पर प्रशंसनीय उच्चाभिलाष का मात्र एक सूक्ष्म पर्दा पड़ा हुआ है – कुछ वर्षों में उसका भी नाश अवश्यम्भावी है। यहाँ तक कि लैंड्सबर्ग भी यदि मेरे कार्यों में बीच-बीच में हस्तक्षेप करे, तो भी मैं उसमें किसी प्रकार की आपत्ति न करूँगा, किन्तु इस विषय को मैं यहीं तक सीमित रखना चाहता हूँ। इनके अलावा मेरी सहायता के लिए और किसी व्यक्ति के अग्रसर होने पर मैं बहुत डर जाता हूँ – सिर्फ

मैं इतना ही कह सकता हूँ। इसलिए नहीं कि आप मेरी सहायता कर रही हैं, बल्कि मैं अपने स्वाभाविक संस्कारों के वशीभूत होकर ही (अथवा जिसे मैं अपने गुरुदेव की प्रेरणा कहता हूँ) आपको अपनी माता की तरह देखता हूँ। अत: आप मुझे जो भी सलाह देंगी, मैं सदा उसका पालन करूँगा, पर वह आपकी व्यक्तिगत होनी चाहिए। यदि आप किसी और को उसके बीच में खड़ा करना चाहें, तो मैं बड़ी विनम्रता के साथ प्रार्थना करूँगा कि मुझे भी चुनने का अधिकार मिलना चाहिए। मुझे केवल इतना ही कहना है।[८९]

न्यूयार्क, ५ मई, १८९५ : वही हुआ, जिसकी मैंने आशा की थी। यद्यपि प्रो. मैक्समूलर ने हिन्दू धर्म पर अपनी सभी रचनाओं पर एक अपमानजनक टिप्पणी जोड़ा है, पर मैं सदैव सोचता था कि अन्तत: उन्हें अवश्य ही पूर्ण सत्य के दर्शन होंगे। जितनी जल्दी हो, तुम 'वेदान्त' पर उनके नये ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त करो। तुम समझ जाओगी कि उन्होंने पुनर्जन्म के पूरे सिद्धान्त को पचा लिया है।... उसमें कई जगह तुम्हें मेरे शिकागो के निबन्ध का भी आभास मिलेगा।

मुझे प्रसन्नता है कि उस वृद्ध पुरुष ने सत्य का दर्शन कर लिया है, क्योंकि आधुनिक अनुसन्धान और विज्ञान के युग में धर्म समझने का वही एकमात्र उपाय है।[९०]

न्यूयार्क, ६ मई १८९५ : तुम जानते हो कि नाम और यश ढूँढ़ने मैं नहीं आया था। वह मुझ पर लाद दिया गया है। ... मैं ही एक व्यक्ति हूँ जिसने अपने देश के पक्ष में बोलने का साहस किया है और मैंने उन्हें ऐसे विचार प्रदान किये हैं, जिनकी आशा हिन्दुओं से वे स्वप्न में भी न रखते थे। यहाँ मेरे अनेक विरोधी हैं, पर मैं कभी कायरता नहीं दिखाऊँगा। ... न्यूयार्क, जो अमेरिका का प्राण-केन्द्र है, उसमें मैंने सुदृढ़ जड़ पकड़ ली है, अत: मेरा काम चलता रहेगा। मैं अपने कुछ शिष्यों को, ग्रीष्मकाल के निमित्त बने हुए एक एकान्त स्थान में ले जा रहा हूँ। वहाँ उन्हें योग, भक्ति और ज्ञान की शिक्षा दी जायेगी, फिर वे काम में सहायता कर सकेंगे। ...

मैं मनुष्य जाति में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करूँगा, जो ईश्वर में अन्त:करण से विश्वास करेगा और संसार की जरा भी परवाह नहीं करेगा।[९१]

न्यूयार्क, मई १८९५ : मेरे विद्यार्थी मेरी सहायता के लिये आ पहुँचे हैं और अब कक्षाएँ निस्सन्देह सुचारु रूप से चला करेंगी। इससे मैं बड़ा खुश हूँ, क्योंकि शिक्षण भी – भोजन करने और साँस लेने के समान ही मेरे जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है।[९२]

न्यूयार्क, १६ मई १८९५ : नहीं जानता कि मैं शिकागो आ सकूँगा या नहीं। मैं एक फ्री-पास पाने की चेष्टा कर रहा हूँ; यदि मिला, तो आऊँगा, अन्यथा नहीं। आर्थिक दृष्टि से इन जाड़े के मौसम में किया गया कार्य जरा भी सफल नहीं हुआ – मैं बड़ी कठिनाई से अपने खर्च पूरे कर सका – पर आध्यात्मिक दृष्टि से यह बड़ा फलदायी रहा।[९३]

न्यूयार्क, २८ मई १८९५ : आखिरकार इस देश में मैं कुछ कर पाने में सफल हुआ।[९४]

पर्सी, ७ जून १८९५ : आखिरकार मैं यहाँ श्री लेगेट के पास आ पहुँचा हूँ। यह मेरे देखे हुए सुन्दरतम स्थानों में से एक है। कल्पना कीजिये कि चारों ओर विशाल जंगलों से आच्छादित पर्वतश्रेणियों के बीच में एक झील है – जहाँ हम लोगों के सिवाय और कोई भी नहीं है। कितना मनोरम, निस्तब्ध तथा शान्तिपूर्ण स्थान है। नगर के कोलाहल के बाद मुझे यहाँ पर कितना आनन्द मिल रहा है, इसका अनुमान आप सहज ही लगा सकते हैं।

यहाँ आकर मानो मुझे फिर नवीन जीवन प्राप्त हुआ है। मैं अकेला जंगल में जाता हूँ, गीता-पाठ करता हूँ और अत्यन्त सुखी हूँ। करीब दस दिन के अन्दर इस स्थान को छोड़कर मुझे 'सहस्रद्वीपोद्यान' जाना है। वहाँ कुछ दिन एकान्त में रहकर घण्टों ध्यान करने का विचार है। इस प्रकार की कल्पना ही मन को उन्नत बना देती है।[९५]

सहस्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क, १८ जून १८९५ : यहाँ हम बड़े आनन्दपूर्वक हैं, किन्तु बंगला में एक कहावत है – 'ढेंकी स्वर्ग भी जाय, तो वहाँ भी धान ही कूटती है।' मुझे पहले के समान ही कठोर परिश्रम करना पड़ता है।[९६]

सहस्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क, २६ जून १८९५ : 'आत्मा की अमरता' पर प्रो. मैक्समूलर के निबन्धों में ... उस वृद्ध आदमी ने वेदान्त की सभी प्रमुख बातों पर विचार किया है और साहसपूर्वक सामने आया है। ...

भारत से आने वाले पत्रों में मुझसे बार-बार लौटने को कहा जा रहा है। ... वे लोग निराश हो रहे हैं। यदि मैं यूरोप जाता हूँ, तो न्यूयार्क के श्री फ्रांसिस लेगेट के अतिथि के रूप में जाऊँगा। वे छह सप्ताह तक पूरा जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्विटजरलैंड का भ्रमण करेंगे। वहाँ से मैं भारत जाऊँगा या लौटकर अमेरिका आ सकता हूँ। मैंने यहाँ बीजारोपण किया है और चाहता हूँ कि वह फले-फूले। इस शरद् में न्यूयार्क का कार्य शानदार रहा और अगर मैं अचानक भारत चला जाता हूँ, तो वह बिगड़ जायगा। अत: मैं शीघ्र भारत जाने के विषय में निश्चित रूप से नहीं कह सकता।

इस बार के सहस्रद्वीपोद्यान के प्रवास में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं घटा। दृश्य बड़े सुन्दर हैं और यहाँ कुछ मित्र हैं, जिनसे आत्मा-परमात्मा पर खुलकर बातें होती हैं। मैं फल खाता हूँ, दूध पीता हूँ, आदि-आदि और वेदान्त पर संस्कृत में बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़ता हूँ, जिन्हें भारत से लोगों ने कृपापूर्वक भेजा है।

मद्रास भेजे गये उत्तर... का वहाँ जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज के अध्यक्ष श्री मिलर के इधर के एक भाषण में काफी-कुछ मेरे ही विचार सन्निहित हैं। उन्होंने घोषित किया है कि पश्चिम को ईश्वर तथा मनुष्य सम्बन्धी हिन्दू-विचारों की आवश्यकता है और युवकों से वहाँ जाकर प्रचार करने का आग्रह भी किया है। इससे ईसाई-मिशनों में खलबली-सी मच गयी है। ...

यात्रा जीवन की सबसे अच्छी चीज है। यदि मुझे एक ही स्थान पर लम्बे समय तक रहना पड़ा, तो भय है कि मेरी मृत्यु हो जायगी। यायावरी वृत्ति से अच्छा कुछ भी नहीं है।

जीवन-अन्धकार जितना ही चारों ओर से घिरता है, लक्ष्य उतना ही निकट आता है, व्यक्ति उतना ही अधिक जीवन का सही अर्थ समझता है कि यह एक स्वप्न है; और तब हम इसको प्राप्त करने में प्रत्येक व्यक्ति की असफलता को समझने लगते हैं, क्योंकि उन्होंने एक निरर्थक वस्तु से अर्थ निकालने का प्रयत्न किया था। स्वप्न से सत्य पाने की इच्छा एक बालोचित उत्साह है। 'हर वस्तु क्षणिक है', 'हर वस्तु परिवर्तन-शील है' – सन्त यह जानकर सुख और दुःख, दोनों का परित्याग कर देता है और किसी भी वस्तु के लिए आसक्ति न रखकर इस विश्व-परिदृश्य का एक द्रष्टा बन जाता है।[९७]

सहस्त्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क, २८ (?) जून १८९५ : मैं यहाँ बड़े आनन्द में हूँ। बहुत कम खाता हूँ और खूब सोचता हूँ, अध्ययन करता और बातें करता हूँ। मेरी आत्मा में अद्भुत शान्ति आती जा रही है। मुझे प्रतिदिन अनुभव होता है, मानो मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है; अपने को सदा चिर विश्राम और शान्ति में अनुभव करता हूँ। हम सबके पीछे ईश्वर ही क्रियाशील है। हम लोग मात्र यंत्र हैं। धन्य है 'उसका' नाम !

वर्तमान अवस्था में काम, अर्थ और यश – ये तीन बन्धन मानो मुझसे दूर हो गये हैं और पुनः यहाँ भी मैं वैसा ही अनुभव कर रहा हूँ, जैसा कभी भारतवर्ष में किया था। "मुझसे सभी भेद-भाव दूर हो गये हैं। अच्छा और बुरा, भ्रम और अज्ञानता सब विलीन हो गये हैं। मैं गुणातीत मार्ग पर चल रहा हूँ।" किस नियम का पालन करूँ और किसकी अवज्ञा? उस ऊँचाई से विश्व मुझे कीचड़ का गड्ढा मात्र लगता है। हरि ॐ तत्सत्। केवल ईश्वर का अस्तित्व है; दूसरे किसी का भी नहीं।[९८]

सहस्त्रद्वीपोद्यान, ९ जुलाई १८९५ : मैं अपनी धुन का पक्का हूँ। मैंने इस देश में एक बीज बोया है, वह अभी पौधा बन गया है और मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही वह वृक्ष हो जायगा। मेरे दो-चार सौ अनुयायी हैं। मैं यहाँ कई संन्यासी बनाऊँगा, तब उन्हें काम सौंपकर भारत आऊँगा। जितना ही ईसाई पादरी मेरा विरोध करते हैं, उतना ही मैंने ठान लिया है कि मैं उनके देश में स्थायी चिह्न छोड़कर जाऊँगा।... इस समय तक लन्दन में मेरे कुछ मित्र बन चुके हैं। मैं वहाँ अगस्त के अन्त तक जाऊँगा।... हर काम को तीन अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है – उपहास, विरोध और स्वीकृति। जो मनुष्य अपने समय से आगे विचार करता है, लोग उसे निश्चय ही गलत समझते हैं। इसलिए विरोध और अत्याचार को हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; परन्तु मुझे दृढ़ और पवित्र होना चाहिए और परमात्मा में असीम विश्वास रखना होगा, तब ये सब लुप्त हो जायँगे।[९९]

सहस्त्रद्वीपोद्यान, ३० जुलाई १८९५ : माँ, मेरा हृदय अत्यन्त दुखी है। उन पत्रों से दीवानजी की मृत्यु का समाचार मिला। हरिदास विहारीदास ने देहत्याग कर दिया है। वे मेरे लिये पितातुल्य थे। बेचारे, पिछले पाँच वर्षों से अपने कर्मव्यस्त जीवन से अवकाश पाने का प्रयास कर रहे थे और आखिरकार वह उन्हें मिल भी गया था, पर वे उसका अधिक दिनों तक उपभोग नहीं कर सके। मैं प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें फिर कभी धरती नामक इस गन्दगी-भरे गर्त में न आना पड़े; उन्हें कभी स्वर्ग या किसी अन्य भयंकर स्थान में जन्म न लेना पड़े; उन्हें कभी शरीर न धारण करना पड़े – चाहे वह अच्छा हो या बुरा। माँ, यह संसार कैसा बकवास तथा भ्रान्ति से परिपूर्ण है और यह जीवन कैसा हास्यास्पद है ! मैं निरन्तर प्रार्थना करता हूँ कि सम्पूर्ण मानवता ईश्वर नामक वास्तविकता को समझ ले, यह संसार-रूपी दुकान हमेशा के लिये बन्द हो जाय। मेरा हृदय भावनाओं से इतना अभिभूत है कि मैं अधिक नहीं लिख सकता।[१००]

सहस्त्रद्वीपोद्यान, अगस्त (?) १८९५ : अपने देशवासियों के प्रति मैंने अपना थोड़ा-सा कर्तव्य निभाया है। अब जगत् के लिए – जिससे कि मुझे यह शरीर मिला है, देश के लिए – जिसने कि मुझे यह भावना प्रदान की है और मनुष्य-जाति के लिए – जिसमें कि मैं अपनी गणना कर सकता हूँ – मुझे कुछ करना है। जितनी ही मेरी उम्र बढ रही है, उतना ही मैं 'मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है' – हिन्दुओं की इस धारणा का तात्पर्य समझ रहा हूँ।[१०१]

न्यूयार्क, अगस्त १८९५ : इस वर्ष मैंने बहुत-सा कार्य किया है और आशा है अगले वर्ष और भी अधिक कर सकूँगा। मिशनरियों को लेकर माथापच्ची न करना। उनका चिल्लाना स्वाभाविक है। जब किसी की रोटी छीन ली जाती है, तो कौन नहीं चिल्लाता? गत दो वर्षों में उनकी पूँजी में काफी अन्तर पड़ चुका है और वह क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। तथापि मैं मिशनरियों की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।... भारत की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में मेरे भाव अधिक मात्रा में रूपायित होते जा रहे हैं।... सत्य में मेरा विश्वास है

और मैं चाहे जहाँ भी क्यों न जाऊँ, प्रभु मेरे लिए काम करने वालों की टोलियाँ भेज ही देते हैं। ये लोग ... गुरु के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा देने को तैयार हैं। **सत्य ही मेरा ईश्वर है तथा समग्र विश्व मेरा देश है।** 'कर्तव्य' में मैं विश्वासी नहीं हूँ, कर्तव्य तो संसारियों के लिए एक अभिशाप है, संन्यासियों का कोई कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य एक व्यर्थ की बात मात्र है। मैं मुक्त हूँ – मेरे सारे बन्धन टूट चूके हैं – इस शरीर का अवसान चाहे कहीं भी क्यों न हो, इसकी मुझे कोई परवाह नहीं।... मैं भगवान की सन्तान हूँ और मुझे सत्य की शिक्षा देनी है। जिनसे मुझे इस सत्य की प्राप्ति हुई है, वे ही मेरे लिए पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ तथा शक्तिशाली सहायक भेजेंगे।[१०२]

न्यूयार्क, अगस्त १८९५ : सर्वप्रथम मैं एक मित्र के साथ पेरिस जा रहा हूँ और १७ अगस्त को यूरोप के लिए प्रस्थान करूँगा। फिर भी मैं अपने मित्र के विवाह को देखने के लिए एक सप्ताह पेरिस में रहूँगा और तब लन्दन जाऊँगा। ...

यहाँ मेरे कई निष्ठावान मित्र हैं, किन्तु दुर्भाग्य से उनमें से अधिकांश गरीब हैं, इसलिए काम धीमी गति से ही हो रहा है। इसके अतिरिक्त कार्य को स्पष्ट रूप देने के लिए न्यूयार्क में कुछ और महीने काम करने की आवश्यकता है; इस तरह जाड़ों के आरम्भ में ही मुझे न्यूयार्क लौट आना होगा और ग्रीष्म में मैं पुन: लन्दन लौट जाऊँगा। मुझे लग रहा है कि मैं लन्दन में अभी कुछ सप्ताह ही ठहर सकूँगा, पर यदि प्रभु ने चाहा, तो यह थोड़ा समय ही महत् कार्यों का आरम्भ सिद्ध हो सकता है। तार द्वारा मैं पेरिस से ही सूचित करूँगा कि कब इंग्लैंड पहुँच रहा हूँ।

न्यूयार्क में कुछ थियोसॉफ़िस्ट मेरी कक्षाओं में आये थे, मैं हमेशा से देख रहा हूँ कि मानव जब वेदान्त के महान् गौरव की उपलब्धि करने लगता है, तो मंत्र-तंत्र आदि अपने आप छूट जाते हैं। जब मनुष्य को सत्य के किसी उच्चतर अवस्था का आभास मिलता है, तत्काल तद्विषयक निम्नतर अवस्था स्वत: ही विलुप्त हो जाती है। संख्या-बाहुल्य का कोई महत्त्व नहीं है। थोड़े-से निष्कपट, संगठित तथा उत्साही युवक एक वर्ष के भीतर इतना कार्य कर सकते हैं, जितना कि असंगठित भीड़ सौ साल में भी नहीं कर सकती। यदि किसी देह में ताप है, तो उसके निकट आनेवालों को भी इसका अनुभव होना चाहिये – प्रकृति का यही नियम है। इसलिए जब तक हम लोगों में वह ज्वलन्त शक्ति, सत्यानुराग, प्रेम तथा सरलता विद्यमान है, तब तक हमारी सफलता अवश्यम्भावी है। मेरा अपना जीवन बड़ा ही वैचित्र्यपूर्ण है, तो भी मैंने सर्वदा इन शाश्वत शब्दों की सत्यता का अनुभव किया है – **सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्था विततो देवयानः** – (सत्य की ही विजय होती है, मिथ्या की कभी नहीं, ईश्वर की ओर ले जानेवाला मार्ग सत्य से होकर ही जाता है)।[१०३]

न्यूयार्क, ९ अगस्त १८९५ : ऐसे लोग असंख्य होंगे, जो हमें हानि पहुँचाना चाहेंगे। परन्तु क्या यह इसका निश्चित प्रमाण नहीं है कि सत्य हमारे ही पक्ष में है? जितना ही मेरा विरोध हुआ है, उतनी ही मेरी शक्ति प्रकट हुई है। राजाओं ने मुझे निमंत्रित किया है और पूजा है। पुरोहितों और जनसाधारण ने मेरी निन्दा की है। परन्तु इससे क्या? सब को आशीर्वाद ! वे सब तो मेरी स्वयं आत्मा हैं और क्या उन्होंने कमानीदार-पटरे (Spring-board) के समान मेरी सहायता नहीं की, जहाँ से उछलकर मेरी शक्ति ने अधिकाधिक विकास कर लिया है? ... मुझे एक रहस्य का बोध हो गया है और वह यह कि धर्म की केवल बातें करनेवालों से मुझे भय नहीं है। जो सत्यद्रष्टा महात्मा हैं, वे कभी किसी से वैर नहीं करते। वाचालों को वाचाल होने दो ! वे इससे अधिक और कुछ नहीं जानते ! उन्हें नाम, यश, धन, स्त्री से सन्तोष प्राप्त करने दो। और हम धर्मोपलब्धि, ब्रह्मलाभ एवं ब्रह्म होने के लिए ही दृढ़व्रत होंगे। हम आमरण तथा जन्म-जन्मान्तर तक सतत सत्य का ही अनुसरण करेंगे। दूसरों के कहने पर हम तनिक भी ध्यान न दें और यदि आजन्म यत्न के बाद केवल एक ही आत्मा संसार के बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो सके, तो हमने अपना काम कर लिया। हरि: ॐ। ... एक बात और। निश्चय ही मुझे भारत से प्रेम है। परन्तु दिन-प्रतिदिन मेरी दृष्टि निर्मल होती जा रही है। हमारे लिए भारत या इंग्लैंड या अमेरिका क्या है? हम तो उस प्रभु के दास हैं, जिसे अज्ञानी जन 'मनुष्य' कहते हैं।[१०४]

पेरिस, ९ सितम्बर १८९५ : भारतवासी यदि मुझे नियमपूर्वक हिन्दू-भोजन के सेवन पर बल देते हैं, तो उनसे एक रसोइया तथा उसको रखने के लिए पर्याप्त रुपयों का प्रबन्ध करने को कह देना। एक पैसे की सहायता करने की तो सामर्थ्य है नहीं, किन्तु आगे बढ़कर उपदेश झाड़ते हैं – इससे मुझे तो हँसी ही आती है। मिशनरी लोग यदि यह कहते हों कि मैंने कामिनी-कांचन-त्याग-रूप संन्यासियों के दोनों ही व्रत तोड़े हैं, तो उनसे कहना कि वे झूठ बोलते है।[१०५]

सन्दर्भ-सूची – **❖ (क्रमशः) ❖**

८९. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. २७७; **९०.** वही, खण्ड ४, पृ. २८०; **९१.** वही, खण्ड ४, पृ. २८२-८३; **९२.** वही, खण्ड ४, पृ. २८७-८८; **९३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ५९; **९४.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. २८६; **९५.** वही, खण्ड ४, पृ. २८८; **९६.** वही, खण्ड ४, पृ. २९३; **९७.** वही, खण्ड ४, पृ. २९६; **९८.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३३-३४; **९९.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३०; **१००.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ६५-६६; **१०१.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३४३; **१०२.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३८-३९; **१०३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३४-३५; **१०४.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३७; **१०५.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४४

रामराज्य की भूमिका (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

महाराज दशरथ में ऐसी कौन-सी दुर्बलताएँ हैं, जिनके कारण इतने श्रेष्ठ संकल्प के बाद भी रामराज्य की स्थापना में वे सक्षम नहीं हुए। अन्य कारण भी हैं, पर एक अधिक प्रत्यक्ष है। अन्य कारण तो बहुत गहराई से देखने पर मिलेंगे, पर एक के बारे में आप रामायण में पढ़ते हैं। नगर को चारों ओर से बन्दनवारों और पताकाओं से सजाया जा रहा है। दान दिया जा रहा है, पूजा-पाठ हो रहा है और अयोध्या के लोग बड़ी आतुरता के साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब कल सूर्योदय होगा और कब श्रीराम सीताजी के साथ सिंहासन पर बैठेंगे –

कनक सिंघासन सीय समेता ।
बैठहिं रामु होइ चित चेता ।। २/११/५

यह व्यग्रता उनके मन में समाई हुई है। पर इन अयोध्या के निवासियों में एक मन्थरा भी है। मन्थरा महारानी कैकेयी की दासी है। मन्थरा लोगों से जाकर पूछती है कि नगर क्यों सजाया जा रहा है। लोगों ने बताया – क्या तुम्हें पता नहीं है, कल अयोध्या के राजसिंहासन पर श्रीराम का राज्याभिषेक होगा! मन्थरा सुनती है। उसे बड़ी पीड़ा होती है। वह अत्यन्त क्षुब्ध होकर कैकेयीजी के पास जाकर उन्हें यह समाचार देती है। यह समाचार सुनकर पहले तो कैकेयीजी प्रसन्न होती है; पर बाद में मन्थरा की चालाकी से, उसकी वाक्चातुरी से प्रभावित होती हैं और मन्थरा जो प्रेरणा देती है, उसे वे स्वीकार कर लेती हैं। मन्थरा ने दो वरदान माँगने की प्रेरणा दी। एक वरदान तो यह कि 'राज्य राम को न मिलकर भरत को मिले' और दूसरा वरदान यह कि 'राम को चौदह वर्ष के लिये वनवास दिया जाय'। कैकेयीजी मन्थरा की प्रेरणा से कोपभवन में जाती हैं। महाराज दशरथ वहाँ पहुँचते हैं और तब कैकेयीजी उनसे वे दो वरदान माँगती हैं। महाराज दशरथ मौन हो जाते हैं। कोई उपाय उन्हें नहीं सूझता। उनके देखते ही देखते श्रीराम अयोध्या से वन की ओर चले जाते हैं और रामराज्य की घड़ी टल जाती है।

इतने बड़े अयोध्या नगर में यह अकेली मन्थरा! यह है कौन? मन्थरा को हम आपके समक्ष तीन स्तरों में रखना चाहेंगे – ज्ञान के सन्दर्भ में, भक्ति के सन्दर्भ में और कर्म के सन्दर्भ में। ये हमारे तीन योग हैं। रामराज्य तीनों के लिए अपेक्षित है। रामराज्य में ही ज्ञानयोग की परिपूर्णता है, रामराज्य में ही भक्तियोग की भी परिपूर्णता है रामराज्य में ही कर्मयोग की भी परिपूर्णता है। इन तीनों साधकों के सामने मन्थरा है, पर इन तीनों के लिए मन्थरा का अर्थ भिन्न-भिन्न है। ज्ञानी के लिए मन्थरा का क्या अर्थ है, भक्त के लिये मन्थरा का अर्थ क्या है और कर्मयोगी के लिए मन्थरा का क्या अर्थ है – इन तीनों अर्थों में मन्थरा को पहचाने की जरूरत है। यह मन्थरा इतने पवित्र नगर अयोध्या में भी है।

इसको यदि ज्ञान के सन्दर्भ में कहें, तो यह जो भेदबुद्धि है, द्वैत भावना है, यही मन्थरा है। ज्ञान-सिद्धान्त की मान्यता यह है कि जब तक द्वैत की बुद्धि बनी हुई है, तब तक जीवन में परिपूर्णता नहीं आ सकती। द्वैत को जीवन से पूर्णत: मिट जाना चाहिये। नदी का बहना तभी रुकेगा, जब वह समुद्र में पहुँच जायेगी। उसके पहले उसका बहना नहीं रुकेगा। इसी प्रकार जीव द्वैत के रूप में, अंश के रूप में, नदी के रूप में समुद्र से दूर है। जब तक उसका द्वैत नहीं मिटता तब तक वह सच्चे अर्थों में कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, सही समग्रता और शान्ति का उसको बोध नहीं होगा। यह समग्रता और शान्ति ही ज्ञान की दृष्टि से रामराज्य है। शुद्ध अद्वैतबोध ही रामराज्य है। विनय पत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं – प्रभो, हम कैसे इस द्वैत से मुक्त हो?

सेवत साधु द्वैत भय भागै ।
श्रीरघुबीर चरन लय लागै । १३६/११/१
द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं, अस कछु जतन बिचारौं ।।

द्वैत के दो अभिप्राय है। एक तो व्यवहार का द्वैत और दूसरा जीव और ब्रह्म का द्वैत। संसार का यह सारा व्यवहार द्वैत पर ही टिका हुआ है। दो की सत्ता मानकर ही सारा व्यवहार चल रहा है। जब हम कहते हैं कि इस सारे सृष्टि के जीव माया के वश में हैं, तो माया कौन है?

दण्डकारण्य में लक्ष्मणजी ने भगवान से पूछा – महाराज, माया कौन है? माया को दिखा दीजिए। भगवान राम मुस्कुराते हुए लक्ष्मणजी से बोले – माया कोई स्त्री होती, तो मैं दिखा देता। वह तो केवल दो शब्दों में समाई हुई है। – वे दो शब्द कौन-से हैं? भगवान कहते हैं – मैं और मेरा, तू और तेरा,

बस यही माया है और यही उसकी व्याख्या है –

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ।। ३/१५/२

इस पर विचार करके देखिए। व्यवहार में भी रामराज्य क्यों नहीं बन पाता? क्योंकि सारी समस्या यही है कि हम मेरापन और तेरापन के बिना कुछ सोचते ही नहीं। यह मेरा-तेरापन सदा साथ जुड़े रहते हैं। इससे बचने के लिये या तो आप 'मैं' का विस्तार कीजिए या 'तू' का विस्तार कीजिए।

भक्तों ने कहा – यदि द्वैत को स्वीकार ही करना है, तो या तो 'तू' के रूप में प्रभु से कहें – 'प्रभु, तू ही तू है'; नहीं तो वेदान्त की भाषा में कहें – 'केवल मैं ही मैं हूँ'। दोनों में से एक मिटना चाहिए। दो रहेंगे, तो द्वैत रहेगा। दोनों में से एक – 'मैं' रहे या 'तू' रहे, तो द्वैत नष्ट हो जायगा। व्यक्ति में 'तू ही तू' आ जाय, यही भगवान राम हनुमानजी से कहते हैं –

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।। ४/३

यदि सब में ईश्वर दिखाई देने लगे और ईश्वर के प्रति ही हमारे अन्त:करण में यह प्रतीति हो कि ये सब ईश्वर के ही स्वरूप हैं और हम ईश्वर से कह सकें कि ये सारे तुम्हारे ही रूप हैं, तब हम उसमें बँटवारा नहीं करेंगे कि केवल हमारे परिवार की उन्नति हो और अन्य लोगों को न हो। इस पर विचार करके देखिए। इस 'मैं' 'तू' की वृत्ति को मन्थरा ने उत्पन्न किया। दो वरदान अर्थात् द्वैत। कैकेयी ने मन्थरा की प्रेरणा से दो वरदान माँगे। वे दो वरदान क्या थे –

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ।। ३/१५/२

कैकेयीजी मन्थरा से प्रभावित हो गईं। वेदान्त की भाषा में कहें तो कैकेयी बुद्धि है और मन्थरा द्वैत है। ये दोनों एक साथ हो गयी हैं। जिस बुद्धि में लगता था कि द्वैत नहीं है, उसी में द्वैत छिपा था। एक बात पर विशेष ध्यान रखेंगे, ऐसा नहीं है कि द्वैत में सर्वदा बुरा व्यवहार ही होता हो, द्वैत में कभी-कभी अच्छा व्यवहार भी होता है। कैसे? कई बार जब आप किसी अतिथि से या किसी नये व्यक्ति से बहुत बढ़िया व्यवहार करते हैं, तो क्या उसके मूल में सदा अद्वैत ही रहता है? ऐसा नहीं है। कभी-कभी शुद्ध द्वैत की एक व्यावहारिक उपयोगिता होती है कि ये पराये हैं, तो इनसे अच्छा व्यवहार करके सन्तुष्ट करना चाहिए। जब हम किसी से अच्छा व्यवहार करते हैं, तो उसके मूल में परायापन ही तो है। परन्तु यह अच्छा व्यवहार कब बुरे रूप में बदलेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। यहाँ भी वही हुआ। कैकेयीजी में भेदबुद्धि का व्यावहारिक रूप है और मन्थरा में भेदबुद्धि का विकृत रूप है। व्यावहारिक रूप में कैकेयीजी की विशेषता यह है कि वे भरत की अपेक्षा राम को अधिक चाहती हैं। बड़ी अच्छी बात है। तो आगे चलकर उनका पतन क्यों होता है? उसका सूत्र यह है कि वे भरत की अपेक्षा राम को अधिक चाहती हैं, तो वह अद्वैत वृत्ति से चाहती हैं या इसमें भी भेद बुद्धि है? इसी को मन्थरा ने स्पष्ट कर दिया। कैकेयीजी के अन्त:करण में धारणा है कि मेरा पुत्र तो भरत ही है और राम कौशल्या के बेटे हैं। पर वे राम को इतना अधिक महत्त्व क्यों देती हैं? उन्होंने मन्थरा को बताया – राम तो सभी माताओं को कौशल्या की तरह चाहते हैं –

कौसल्या सम सब महतारी ।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी ।। २/१४/५

मन्थरा ने पूछा – आपको भी? – अरे नहीं, कौशल्या के समान तो अन्य माताओं को चाहते हैं पर – वे अपनी माता और अन्य माताओं की अपेक्षा मुझसे अधिक स्नेह करते हैं –

मो पर करहिं सनेहु बिसेषी ।। २/१४/६

मन्थरा मन-ही-मन प्रसन्न हो गई। सारे सद्व्यवहार के मूल में क्या वृत्ति है? राम जब अपनी माँ की अपेक्षा मुझे अधिक महत्त्व देते हैं, तो बदले में मैं भी अपने बेटे की अपेक्षा उसे अधिक महत्त्व दूँगी। उसको हम लोग बायन चुकाना कहते हैं। यहाँ पर भी वह शब्द बायन आया हुआ है। हम लोगों के यहाँ विवाह-शादी में जब बारात लौटकर आती है, तो उसके साथ जो मिठाइयाँ आती हैं, उसको सबके यहाँ भेजा जाता है। उसे भेजने में उदारता का प्रयोग नहीं होता। जब किसी के यहाँ मिठाई भेजते हैं, तो पूछते हैं कि उनके घर से कितना आया था? उसी हिसाब से भेजना है, अधिक नहीं –

भले भवन अब बायन दीन्हा ।। १/१३६/५

तो कैकेयी की बायन की उदारता है। राम यदि अपनी माँ को महत्त्व न देकर मुझे दे रहे हैं, तो मैं भी दूँगी। सद्व्यवहार कब धरासायी हो जाय, कोई ठीक नहीं। भवन बड़ा ऊँचा दिखाई दे रहा है, पर नींव बड़ी कमजोर है। मन्थरा ने इसी कमजोरी को पकड़ा और नींव को ऐसा हिलाया कि सद्व्यवहार का सारा भवन ढहकर गिर गया। मन्थरा बोली – ठीक है, पर यह सब बड़ी पुरानी बात है। – तो अब? – समय बदल जाने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। सूर्य कमलों का पोषण करता है, पर जल न रहे तो उन्हीं कमलों को जलाकर नष्ट कर देता है। सौत कौशल्या तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है, अत: उपाय रूपी श्रेष्ठ घेरा लगाकर उसे रूँध दो –

रहा प्रथम अब ते दिन बीते ।
समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते ।।
भानु कमल कुल पोषनिहारा ।
बिनु जल जारि करइ सोइ छारा ।।
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी ।
रूँधहु करि उपाउ बर बारी ।। २/१६/६-८
तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ ।

मन मलीन मुह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ ।। २/१७

मन्थरा आगे बोली – राजा मन के मैले, मुँह के मीठे हैं और आपका सीधा-सादा स्वभाव है। राम की माता कौशल्या बड़ी चतुर है। उसने मौका देखकर अपनी बात बना ली, राजा को सलाह देकर भरत को ननिहाल भेज दिया –

चतुर गँभीर राम महतारी ।
बीचु पाइ निज बात सँवारी ।।
पठए भरतु भूप ननिअउरें ।
राम मातु मत जानब रउरें ।।
सेवहिं सकल सवति मोहि नीकें ।
गरबित भरत मातु बल पी कें ।।
सालु तुम्हार कौसिलहि माई ।
कपट चतुर नहिं होई जनाई ।। २/१७/१-४

– अब क्या होगा? – राम बदल गये हैं। वे राजा होंगे, तो भरत कारागार में डाले जाएँगे और लक्ष्मणजी को युवराज का पद दिया जायगा –

भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब ।। २/१९

सारा सद्व्यवहार धरासायी हो गया, क्योंकि वह द्वैत पर टिका हुआ था। कैकेयी ने कहा – "वे बदल गये हैं, तो मुझे बदलते कितनी देर लगेगी ! अब यदि वे अपनी माँ को अधिक चाहने लगे हैं, तो मैं भी अपने बेटे को अधिक चाहूँगी।" हम लोगों के सारे व्यवहार का आधार यही तो है। हम रामराज्य की चर्चा भले ही करें, परन्तु हमारा सद्व्यवहार सामने वाले के व्यवहार पर टिका हुआ है। हमारे मन में केवल कल्पना भी हो जाय कि सामनेवाले का व्यवहार बदला हुआ लगता है, तो हमें बदलते देर नहीं लगती।

दो मातायें हैं – कौशल्याजी और कैकेयीजी। दोनों में से कैकेयी की उदारता तो विख्यात है, कौशल्याजी की उदारता उतनी प्रसिद्ध नहीं है। सारी अयोध्या में चर्चा होती थी कि कैकेयी बड़े उदार चरित्र वाली हैं, उनके मन में सौतिया डाह तो है ही नहीं; वे अपने बेटे की अपेक्षा भी कौशल्या के बेटे को अधिक चाहती हैं। इसीलिए कैकेयी ने वरदान माँगा, तो अयोध्या में तहलका मच गया, लोगों को विश्वास ही नहीं हुआ कि कैकेयीजी ऐसा भी कर सकती हैं ! यह असम्भव है।

कैकेयीजी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गईं। मन्थरा ने पूछा – आपको कैसे पता चला कि राम आपको अधिक चाहते हैं, तो कैकेयीजी बोलीं – मैंने राम के प्रेम की परीक्षा लेकर देखा है –

मैं करि प्रीत परीच्छा देखी ।

तो प्रेम की परीक्षा कैसे ली जाती है? किस पाठशाला में कौन-सा पाठ्यक्रम है, जिसमें आप प्रेम की परीक्षा लेंगे। प्रेम ही एक ऐसी चीज है, जिसकी परीक्षा नहीं हो सकती। क्योंकि प्रेम यदि क्रिया पर आधारित होता, तो आप परीक्षा लेकर देख सकते थे कि कोई हमसे ऐसा-ऐसा व्यवहार करे, ऐसी-ऐसी क्रिया करे, वह तो प्रेमी है; और ऐसी-ऐसी क्रिया का जो प्रयोग करे, वह प्रेमी नहीं है। प्रेम क्रिया का नाम नहीं है। प्रेम के मूल में भावना है। यदि क्रिया के आधार पर प्रेम किया जाय, तो आप कल्पना कर सकते हैं कि कैकेयीजी ने कैसे परीक्षा ली होगी। श्रीराम जा रहे हैं कौशल्या अम्बा की गोद में, उन्होंने दूध पिलाने के लिये बुलाया है। सहसा कैकेयीजी के मन में आता है – देखें, राम अपनी माँ को अधिक चाहते हैं या मुझे ! उन्होंने तत्काल कहा – राम बेटा, इधर आओ तो। श्रीराम कौशल्याजी की गोद के स्थान पर कैकेयी की गोद में चले गये। तो उन्होंने परीक्षा में सन्तोष कर लिया कि यदि मुझसे अधिक प्रेम न करते, तो अपनी माँ को छोड़कर मेरे पास कैसे आते? पर कौशल्याजी की गोद में न जाकर कैकेयीजी की गोद में जाना – क्या यह प्रेम की सच्ची कसौटी है? जब आप क्रिया के आधार पर प्रेम का निर्णय करेंगे, तो ऐसे प्रेम की व्याख्या बदलती रहती है। वस्तुत: प्रेम के आधार पर क्रिया की व्याख्या होती है। लोग क्रिया के आधार पर प्रेम की भले ही चर्चा करें, पर प्रेमी प्रेम को पहले सत्य मानता है और प्रेम के आधार पर क्रिया की व्याख्या करता है। प्रेमी जीवन के व्यवहार में कथावाचक बहुत बढ़िया होता है। प्रेमी पहले ही मान लेता है कि ये मुझसे बड़ा प्यार करते हैं और जो भी मिले, जितनी क्रिया देखता है, उसकी प्रेम के सन्दर्भ में व्याख्या कर लेता है। मेघ ने स्वाति नक्षत्र में चातक को जल दे दिया। चातक ने बड़ी प्रसन्नता के साथ उस जल को ले लिया। अगले वर्ष स्वाति नक्षत्र में जल नहीं बरसा और ओले बरसने लगे, तो अब यदि मेघ ने चातक को जल दिया, तो लगेगा कि मेघ ने प्रेम किया। और यदि मेघ ने चातक को जल नहीं दिया, तो इसे अगर क्रिया के सन्दर्भ में माने तो मेघ ने प्रेम नहीं किया।

परन्तु भरतजी की प्रेम की व्याख्या भिन्न है। भरतजी और कैकेयी – माँ और पुत्र हैं, पर दोनों की व्याख्या में बड़ा भेद है। कैकेयी सोचती हैं कि राम जो व्यवहार कर रहे हैं, उसी से यह निर्णय होगा कि राम मुझे अधिक चाहते हैं कि अपनी माँ को? किसी ने मुझसे पूछा कि श्रीराम कैकेयीजी से इतना उत्कृष्ट व्यवहार करते थे, तो कैकेयीजी में इतनी ऊँचाई, इतनी विशेषता थी क्या? मैंने कहा – गोस्वामीजी ने इसके लिये एक बड़ा कड़वा दृष्टान्त दिया है – आप अपने सारे शरीर का ध्यान रखते हैं, पर यदि कहीं फोड़ा हो जाय, तो उसी का सबसे अधिक ध्यान रखते हैं। इसका अर्थ क्या यह हुआ कि आप फोड़े से ही सबसे अधिक प्रेम करते हैं –

ता कुमातु को मन जोगवत,
ज्यों निज तन मरमु कुघाउ ।। वि.प. १००/६

श्रीराम जानते हैं कि कैकेयीजी में अहं की रजोगुणी वृत्ति

है, इनको तुरन्त दु:ख लगेगा, बुरा मान जायँगी। कौशल्याजी में यह वृत्ति नहीं है। इसलिए कैकेयीजी बुला रही हैं, तो उन्हीं को सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए। इस क्रिया को ही उन्होंने प्रेम का लक्षण मान लिया; और मन्थरा ने ज्योंही सूचना दी कि अब राम बदल गए हैं। न तो राम ही बदले थे और न उनका व्यवहार बदला था, परन्तु मन्थरा द्वारा केवल सूचना मात्र मिली कि ऐसा हुआ। हम लोग भी कैकेयी की तरह ही कान के बड़े कच्चे हैं। देखकर नहीं, हम लोग तो सुनी हुई बात को इतना सही मान लेते हैं – बस, कोई कह भर दे कि आपके विषय में उन्होंने ऐसा कहा था, ऐसा करने वाले हैं, इतना सुनकर ही हम बदल जाते हैं। हमें यह चिन्ता नहीं होती कि पता लगावें कि यह सत्य है या नहीं। सुनी हुई झूठी बात को सत्य मानकर हम उस व्यक्ति के प्रति द्वेष की वृत्ति पाल लेते हैं और अपना दु:ख बढ़ा लेते हैं।

यहाँ यही तो हुआ। मन्थरा ने कल्पित चित्र खींचा, कैकेयी ने उसे सत्य माना और बदला लेने पर उतर आई। दूसरी ओर भरतजी की क्या व्याख्या है? वे चित्रकूट जा रहे हैं। किसी ने पूछा – राम आपका सम्मान करेंगे या अपमान? हम सम्मान को प्रेम मानेंगे और अपमान को द्वेष मानेंगे। पर भरतजी कहते हैं – चातक से किसी ने पूछा – मेघ तुम्हें जल नहीं दे रहा है, लगता है बड़ा कठोर है। चातक ने क्या उत्तर दिया? गोस्वामीजी ने दोहावली में कहा –

चढ़त चातक चित कबहु प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की, ताते नाप न जोख ।। २८१

यदि चातक को मेघ में दोष दिखाई दे जाय, तब तो प्रेम की गहराई की नाप हो जाती। परन्तु प्रेम की गहराई नापी नहीं जा सकती। चातक को मेघ से जल नहीं मिला और उससे जब पूछा गया, तो उसने कहा – अरे, आप दुखी क्यों हो रहे हैं? पूछा गया, क्या तुम उस निष्ठुर से प्रेम करते हो? वह संसार को जल दे रहा है, पर उसने तुम्हें स्वाति नक्षत्र में जल नहीं दिया। चातक ने कहा – भाई, यदि घर में बाहर के बहुत -से अतिथि आ जायँ और भोजन कम हो, तो पहले अतिथियों को खिला दिया जाता है, चाहे घर के लोगों को भूखा ही क्यों न रहना पड़े। यह मेघ संसार के लोगों को पराया समझता है, इसलिए जल बाँट रहा है; और हम तो उसके अपने हैं, चाहे दे या न दे। यह तो उसका प्यार है। उसका अभिप्राय यह है कि दे तो भी प्यार है और न दे तो भी प्यार है। यही प्रेम की सच्ची व्याख्या है। गोस्वामीजी ने मारीच को प्रेमी कहा और प्रेम के साथ एक अन्य शब्द भी लगा दिया – अभंग प्रेम –

अस जियँ जानि दसानन संगा।
चला राम पद प्रेम अभंगा ।। ३/२६/७

अभंग प्रेम का अर्थ क्या है? विभीषण भगवान की शरण में जा रहे हैं और मारीच भी मन से भगवान की शरण में जा रहा है। विभीषण शरीर और मन – दोनों से भगवान की शरण में जा रहे हैं और विभीषण के मन में कल्पना हो रही है कि आज क्या होगा? और उनकी मधुर कल्पना को गोस्वामी जी ने गीतावली रामायण में प्रस्तुत किया। वे सोच रहे हैं – मैं जब जाऊँगा, प्रभु बुलावेंगे, सिर पर हाथ रखेंगे, मुझसे कुशल प्रश्न पूछेंगे, मैं धन्य हो जाऊँगा –

महाराज राम पहँ जाउँगो,
सपनो-सो अपनो न कछू लखि, लघु लालच न लोभाउँगो
धरिहैं नाथ हाथ माथे, एहि तें केहि लाभ अघाउँगो ।।
कहिहौं, बलि, रोटिहा रावरो, बिनु मोलही बिकाउँगो।
तुलसी पट उतरे ओढ़िहौं, उबरी जूठनि खाउँगो ।। ५/३०

यह विभीषण की कल्पना है। पर मारीच के लिए अभंग प्रेम कहने का अर्थ है? वह भी शरण में जा रहा है, पर क्या कल्पना हो रही है? गले से लगावेंगे, बड़ा सम्मान देकर पूजा करेंगे? मारीच कहता है – नहीं, नहीं, वे तो मुझे मारनेवाले हैं। परन्तु वह जा रहा बड़ी प्रसन्नता के साथ – **मन अति हरष**। यदि जीवन की आशा लेकर हमें प्रेम दिखाई दे, तो वह प्रेम है या नहीं, यह तो भविष्य में सिद्ध होगा। परन्तु जहाँ सामने मृत्यु खड़ी है, मृत्यु के कारण के रूप में ईश्वर सामने आ रहा है। मारीच को पता है कि इसका कोई विकल्प नहीं है। श्रीराम मुझ पर बाण चलावेंगे। आज मेरी मृत्यु होगी। परन्तु वह इतना प्रसन्न है कि उसको चिन्ता होने लगी कि मेरी प्रसन्नता को देखकर कहीं रावण को यह सन्देह न हो जाय कि कहीं यह राम से मिल जाने की योजना बनाकर तो नहीं जा रहा है? अत: अपनी प्रसन्नता को बाहर प्रगट नहीं होने देता –

मन अति हरष जनाव न तेही।
आजु देखिहउँ परम सनेही ।। ३/२६/८

आज मैं परम स्नेही को देखूँगा। शब्द कैसा है – अपने परम प्रियतम को देखकर नेत्रों को सफल तथा सुखी करूँगा। जानकीजी सहित और छोटे भाई लक्ष्मणजी समेत कृपानिधान श्रीराम के चरणों में मन लगाऊँगा –

निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।
श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं ।। ३/२६

उधर से वे क्या करेंगे? – बाण चलायेंगे। किसी ने कहा – भलेमानुष, इतनी ऊँची कल्पना करते जा रहे हो, उधर वे तो मारनेवाले हैं; प्रेम का यही लक्षण है क्या? तुम्हारे छाती में बाण से प्रहार करेंगे, जानते हो बाण कितना कठोर है? मारीच बोला – क्या तुम्हें पता है कि भगवान के हाथ कितने कोमल हैं? तुम्हें बाण की कठोरता दिखाई देती है और मुझे बाण के पीछे भगवान के भुजाओं की कोमलता दिखाई देती है –

निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी।।

मारीच की महानता यही है कि मृत्यु के क्षण में भी उसे

दिखता है कि बाण चलायेंगे, तो इसमें भी उनका प्यार है। जब वह मरने लगा, तो गोस्वामीजी कहते हैं – सुजान श्रीराम ने उसके हृदय के प्रेम को पहचानकर उसे, वह गति प्रदान की, जो मुनियों के लिये भी दुर्लभ है –

अंतर प्रेम तासु पहिचाना ।
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना ।। ३/२७/१८

संसार की बात तो जाने दीजिए, यदि भगवान से भी प्रेम का दावा करे और उनके व्यवहार को देखकर प्रमाणपत्र बदलते रहें – एक बार व्यापार में लाभ हो जाय, तो लगे कि भगवान बड़ा प्रेम करते हैं और घाटा हो जाय, तो लगे कि अब उनका प्रेम कम हो गया है – तब तो आपका प्रमाणपत्र कभी टिकेगा ही नहीं। प्रमाणपत्र तो तब सही है, जब प्रभु के हर कार्य में आपको प्रति क्षण अपनी प्रसन्नता का अनुभव हो –

राजी रहे रसिकेस घने हम
तिन राम के राजि में राजी ।।

हमारे प्रभु जैसा चाहें, वही उनका प्यार है, उनका स्नेह है। वे यदि जीवन देते हैं तो भी कृपा है, मृत्यु देते हैं तो भी उनकी कृपा है। जिसको दोनों में कृपा दिखाई देती है, उसी का प्रेम स्थिर रह सकता है, दूसरों का नहीं। भरतजी ने चातक को ही अपना आदर्श माना। वे कहते हैं – मेघ चाहे जन्म भर चातक की सुध भुला दे और जल माँगने पर वह चाहे ओले ही गिरावे, पर चातक की रटन घटने से तो उसकी बात ही घट जाएगी। उसकी तो प्रेम बढ़ने में ही सब तरह से भलाई है –

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ ।
जाचत जलु पबि पाहन डारउ ।।
चातकु रटनि घटें घटि जाई ।
बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई ।। २/२०५/३-४

भरतजी रामराज्य के संस्थापक हैं और कैकेयीजी रामराज्य में बाधक हैं। इसका मूल सूत्र यह है कि उनके अन्त:करण में ईश्वर के प्रति महानतम प्रेम है। चित्रकूट जाते समय वे यह कल्पना नहीं करते कि श्रीराम मेरा स्वागत करेंगे। वे तो दोनों विकल्पों के लिए तैयार होकर जा रहे हैं। पूछा गया – वे क्या करेंगे? भरतजी बोले – या तो वे मुझे मलिन मनवाला जानकर त्याग देंगे, या अपना सेवक मानकर सम्मान करेंगे –

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी ।
जौं सनमानहिं सेवकु मानी ।। २/२३४/१

आपको कैसा लगेगा? बोले – मेरे लिए दोनों बराबर हैं। – दोनों कैसे बराबर हो जायगा? भरतजी ने कहा – दोनों तरह से श्रीराम के जूते ही मेरे लिए परम आराध्य है –

मोरें सरन रामहि की पनही ।। २/२३४/२

सम्मान और अपमान में क्या अन्तर है? जब हम किसी को सम्मान देते हैं, तो उसके पादत्राण को भी सिर पर धारण करते हैं, जूते को भी महत्त्व देते हैं; और जब कोई अपमान करता है, जूते मारता है, तो वह भी सिर पर ही लगता है। भरतजी का अभिप्राय यह है कि मुझे तो दोनों ही दृष्टियों से – सिर पर उनके पादत्राण का स्पर्श प्राप्त होगा – इससे बढ़कर मेरी दृष्टि में प्रसन्नता की दूसरी कोई बात नहीं है।

तात्पर्य यह है कि 'मैं' और 'तू' की भावना में छिपा हुआ व्यवहार जो दिखाई देता है, उसमें यदि सद्व्यवहार भी होता है, तो उसे बदलते देर नहीं लगती। मन्थरा का द्वैत 'मैं' और 'तू' का द्वैत है। उसने कैकेयीजी को याद दिला दिया कि तुम राम को चाहे जितना भी चाहो, पर राम तुम्हारे असली बेटे नहीं हो सकते, तुम्हारे वास्तविक बेटे तो भरत ही हैं। उसने बेटे की परिभाषा भी बता दी – जिसका शरीर से जन्म हुआ है, वह असली पुत्र; और जिसका शरीर से जन्म नहीं हुआ है, नकली पुत्र। हम लोगों की भी यही कसौटी है। शरीर ही हमारे सम्बन्धों का आधार है। जिसका हमारे शरीर से जन्म हुआ है, वही हमारा असली पुत्र है और जिससे हमारा शरीर का सम्बन्ध नहीं है, उसे हम पराया मानेंगे – उससे माना हुआ, बनाया हुआ सम्बन्ध है।

कैकेयी जी के और मन्थरा के संवाद में शरीर केन्द्र में आ गया। कैकेयीजी भीतर छिपाए हुए हैं। इस वृत्ति को वे भूल नहीं पाती कि भरत मेरे बेटे हैं और मन्थरा इसी छिपे हुए भाव को उभाड़ देती है। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – मन्थरा के प्रभाव से कैकेयीजी इतनी बदल कैसे गईं? उन्होंने एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया। बोले – जैसे हम ग्रीष्मकाल में देखें, तो जमीन पर कोई जीव-जन्तु नहीं दिखाई देते, परन्तु वर्षा ऋतु में वर्षा होते ही मेढक भी बोलने लगा और असंख्य कीड़े-मकोड़े भी निकल आते हैं। तो क्या ये कीड़े-मकोड़े और मेंढक आकाश से गिरे। नहीं, वे पृथ्वी में छिपे हुए थे, वर्षा होते ही वे भीतर से बाहर आ गए। गोस्वामीजी ने कैकेयी और मन्थरा का सम्बन्ध भी इसी रूप में रखा – विपत्ति बीज है, दासी वर्षा ऋतु है, कैकेयी की कुबुद्धि जमीन है और उसमें कपट रूपी जल पाकर अंकुर फूट निकला –

बिपति बीजु बरषा रितु चेरी ।
भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ।। २/२३/५

कैकेयीजी में शरीर को केन्द्र मानने की वृत्ति और अपने पराए की भावना पहले से ही थी। उनके पिताजी भी शरीर को ही महत्व देने वाले थे। ये भी शरीरवादी हैं। पर कैकेयीजी ने उसे ऊपरी उदारता में छिपा लिया था, मन्थरा ने उसी को उजाड़ दिया और इसीलिए उनका व्यवहार बदल गया।

दूसरी ओर सुमित्रा अम्बा कितनी उदार हैं ! उन्होंने अपने पुत्र को श्रीराम के साथ विदा कर दिया और हनुमानजी के

(शेष पृष्ठ ८० पर)

अपरिग्रह का सुख

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

अध्यात्म के साधकों के लिए 'अपरिग्रह' महाव्रत के रूप में रखा गया है। महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्रों में उसे अष्टांग-योग-साधन के अन्तर्गत यम के पाँच स्तम्भों में से एक माना है। 'अपरिग्रह' का अर्थ होता है 'परिग्रह' का अभाव। और 'परिग्रह' का तात्पर्य है – लेना, स्वीकार करना। इस प्रकार अपरिग्रह वह गुण है, जो किसी से भेंट स्वीकार करने का निषेध करता है।

यह तो एक जानी-समझी बात है कि जब हम किसी से कोई भेंट ग्रहण करते हैं, तो हमारा मन देनेवाले के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करता है और स्वाभाविक ही उससे प्रभावित भी होता है। ऐसा प्रभाव हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिए हानिकारक हो सकता है। इसलिए परिग्रह का निषेध किया गया है।

आध्यात्मिक जीवन की बात छोड़ भी दें, तब भी, सामान्य जीवन में भी परिग्रह स्वास्थ्यकर नहीं होता। स्नेह और नि:स्वार्थ भेंट संसार में एक विरल बात है। हम अपने अत्यन्त नजदीकी लोगों को प्यार-स्वरूप कोई भेंट देते हों, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है; आपत्ति तब होती है जब व्यक्ति हमसे कुछ अनुचित कराने के लिए हमें उपहार देता है। ऐसे व्यक्ति से कुछ स्वीकार करना आफत ही मोल लेना होता है। दशहरा-दीवाली में वह हमें कुछ भेंट करना चाहेगा और यदि हम स्वीकार नहीं करेंगे, तो कहेगा कि यह तो बच्चों के लिए लेता आया हूँ। अगर हमने भेंट स्वीकार कर ली, तो समझ लीजिए कि हमें परिग्रह के दोष घेर लेंगे और हमारा मन उस भेंट देनेवाले व्यक्ति के द्वारा प्रभावित हो जाएगा। फलत: हम नैतिकता के मानदण्ड को सुरक्षित नहीं रख पाएँगे।

मेरे एक परिचित जिला एवं सत्र-न्यायाधीश थे। बड़े ईमानदार और न्यायपरायण। वे एक किस्सा सुनाते हैं। एक व्यक्ति उनसे परिचित होने के लिए आतुर था। उसने अपनी पत्नी को उस क्लब का सदस्य बना दिया, जहाँ न्यायाधीश महोदय की पत्नी जाया करती थीं। उस व्यक्ति की पत्नी ने न्यायाधीश की पत्नी से मेल-जोल बढ़ाया। धीरे-धीरे तोहफों और भेंटों का एकतरफा दौर शुरू हुआ। दोनों परिवार घनिष्ठ होते गये, एक दूसरे के घर आने-जाने का सिलसिला शुरू हो गया। मौका देखकर उस व्यक्ति ने एक दिन न्यायाधीश महोदय से एक केस के बारे में सहानुभूति का रुख अपनाने का अनुरोध किया। न्यायाधीश ने देखा कि केस तो निहायत खराब है। अपने इस नये बने मित्र को मदद देने की उनकी इच्छा तो हुई, पर उनके न्यायपरायण मन ने ऐसा नहीं होने दिया और फैसला उस व्यक्ति के विरुद्ध हुआ। तब से उस व्यक्ति का आना-जाना और मेल-जोल ही बन्द हो गया। यदि न्यायाधीश महोदय दृढ़ इच्छाशक्ति सम्पन्न न होते तो परिग्रह उन्हें ले डूबता।

इस घटना से एक और संकेत मिलता है कि जो लोग किसी स्वार्थवश भेंट देते रहते हैं, उनका स्वार्थ यदि न सधा तो उनका भेंट देने का क्रम बन्द हो जाता है। परिग्रह में स्वार्थ का यह तत्त्व अनिवार्य रूप से मिला रहता है। इसीलिए नैतिक जीवन बिताने हेतु अपरिग्रह पर इतना जोर किया जाता है।

'परिग्रह' का एक और अर्थ हिन्दी में रूढ़ हो गया है – वह है 'आवश्यकता से अधिक का संचय'। यह खुला रहस्य है कि जब भी हम आवश्यकता से अधिक कुछ संचय करते हैं, तो दूसरे के हक को मारकर ही ऐसा करते हैं। 'आवश्यकता' की परिभाषा अलग-अलग व्यक्ति के सन्दर्भ में अलग-अलग हो सकती है, पर जो भी अपनी आवश्यकता से अधिक का संचय करेगा, वह दूसरे का अधिकार छीनकर ही वैसा करेगा। इस दृष्टि से भी 'परिग्रह' नैतिक मूल्यों का विरोधी है। वह समाज के सन्तुलन को बिगाड़ देता है। जनता की गरीबी के मूल में देश के शेष लोगों का परिग्रह ही है। अपरिग्रह का गुण ऐसी दूषित मनोवृत्ति के लिए अंकुश का काम करता है और सामाजिक स्वस्थता के लिए उचित वातावरण का निर्माण करता है।

कालीपद घोष

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

श्रीमती कृष्णप्रियंगिनी जब हर तरह की कोशिश करके भी अपने पति को कुमार्ग से हटाकर सही रास्ते पर नहीं ला सकी, तो उसके मन में कड़वाहट आ गयी। हताश होकर एक दिन वह माँ-काली की पूजा करने अपनी संगिनियों के साथ दक्षिणेश्वर गयी। वहाँ उसकी भेंट श्रीरामकृष्ण से हुई और उनमें एक सहानुभूतिपूर्ण श्रोता पाकर उसने अपने अन्तर की व्यथा उड़ेल दी। उसका पति गलत राहों में पड़ गया था और परिवार को नष्ट करने पर तुला था। उसने उनसे कोई इलाज बताने की प्रार्थना की। श्रीरामकृष्ण सिद्धाई के उपयोग के सख्त विरोधी थे, विशेषकर सांसारिक लाभ के लिए, अत: उन्होंने कोई वशीकरण मंत्र आदि देने से मना कर दिया। पर गहरी सहानुभूति और अपने विनोदी स्वभाव के कारण उन्होंने उसे भगाया नहीं, बल्कि नौबतखाने में जाने का निर्देश देकर कहा, "देखो, वहाँ एक महिला रहती है। वह जादू और वशीकरण मंत्र जानती है और उसकी शक्ति मुझसे अधिक है।"

श्री सारदादेवी उस समय पूजा कर रही थीं। उन्होंने उन स्त्री की बात बहुत धीरज से सुनी, पर उन्हें फिर श्रीरामकृष्ण के पास जाकर प्रार्थना करने को कहा। श्रीरामकृष्ण इस विनोद के खेल को सफल होते देख बड़े आनन्दित हुए। उन्होंने उसे फिर सारदादेवी के पास भेज दिया। इस प्रकार तीन बार उन लोगों के बीच आते-जाते बेचारी कृष्णप्रिया बहुत भ्रमित हो उठी। इस बार सारदादेवी को उस पर दया आयी और उन्होंने उसे सांत्वना दी। पूजा में भगवान को चढ़ाया बेलपत्र उसे देते हुए उन्होंने कहा, "बेटी, यह ले जाओ, इससे तुम्हारी कामना पूरी होगी।"[१] श्रीरामकृष्ण ने भी यह कहकर उसे दिलासा दी, "कालीपद यहीं का है, तुम बिल्कुल चिन्ता न करो। वह शीघ्र ही यहाँ आएगा।"[२] अचरज है कि कालीपद में सुधार दीखने लगा। समय पाकर वह रामकृष्ण के प्रमुख भक्तों में से एक हो गया और उसकी पत्नी को भी अनुभव होने लगा कि यह संसार कोई आनन्द की जगह नहीं है, पर साथ ही यह चिर दु:खपूर्ण जगह नहीं है, जैसा कि उसने कभी सोचा था।

कालीपद १८४९ की एक अमावस्या के दिन श्यामपुकुर के घोष परिवार में जन्मा था। पिता गुरुदास घोष जूट के छोटे से व्यापारी थे और पूरी तरह संसारी होते हुए भी माँ-काली के प्रति भक्ति और श्रद्धा के लिए काफी प्रसिद्ध थे। माता मेनका बाला कर्तव्यपरायण, भक्तिमती, दयालु तथा उदार थीं। बालक के चरित्र-निर्माण में उनका काफी योगदान था। बालक कालीपद इतना चंचल था कि कक्षा की चारदीवारी के भीतर अपने को बाँधे रखना उसके लिए बड़ा मुश्किल था। उसकी अनेक रुचियाँ थीं – संगीत, गीत-रचना, नाटक खेलना, भोजन पकाना आदि आदि। बचपन से ही वह बेहद जिद्दी स्वभाव का था, जो उसके चरित्र का एक प्रमुख अंग बन गया था। पर साथ ही उसके चरित्र में एक अन्य बात भी थी – वह सदा समर्पण और प्रशंसा करने के लिए प्रस्तुत रहता।

अपने पुत्र को आठवीं से अधिक पढ़ा सकने में आर्थिक रूप से असमर्थ होने के कारण गुरुदास ने उसके लिए मेसर्स जॉन डिकिंसन कं. में शॉप-असिस्टेंट की नौकरी ढूँढ़ दी। शुरू में ऐसा लगा कि उसके भाग्य में यही एक ढर्रे का काम बदा है। पर वह बड़े जीवट का युवक था। उसने अपनी लगन और उत्साह के द्वारा अपने ऊपरी अफसरों का विश्वास जीत लिया और अपनी समझ, मेहनती स्वभाव तथा सर्वोपरि – उद्यमशीलता से वह निरन्तर उन्नति करता रहा। आगे चलकर वे उसी कम्पनी के प्रबन्धकों में से एक हो गये। वहाँ उन्होंने खूब धन कमाया और कलकत्ते के श्यामपुकुर स्ट्रीट में एक तिमंजला मकान बनवा लिया। कम्पनी के संगठन में उनका योगदान इतना महत्त्वपूर्ण था कि कम्पनी ने अपने द्वारा निर्मित कागज पर उनके चेहरे का वाटर-मार्क छापा था।[३]

प्रसिद्ध नाट्यकार गिरीशचन्द्र घोष आयु में उनसे पाँच वर्ष बड़े थे, पर संयोग कुछ ऐसा बना कि कालीपद उनके घनिष्ठ मित्र बन गये। कालीपद की ओर से नम्र आदर भाव था, तो गिरीश की ओर से बड़े भाई का सद्भावपूर्ण स्नेह। दोनों के चरित्र में ऐसी कई समानताएँ थीं कि लोग उनकी घनिष्ठता को देख उन्हें बहुधा 'जगाई-मधाई' कहते। गिरीश की ही भाँति कालीपद के चरित्र में भी हूनर और लम्पटता एक साथ विद्यमान थे, पर कालीपद में किसी गुरु से आध्यात्मिक

१. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीमाँ सारदादेवी' (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, द्वि. सं.), पृ. १५६; **२.** अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथी' (कलकत्ता, उद्बोधन कार्यालय, नौवाँ संस्करण), पृ. ३७७

३. प्रारम्भ में मेसर्स जॉन डिक्सन कं. सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशक मेसर्स मैकमिलन कं. के एजेण्ट थे। बाद में उन्होंने स्वतंत्र रूप से विभिन्न प्रकार के कागज निर्माण करने की फर्म बनायी थी। कालीपद घोष का नाम इस क्षेत्र में कम्पनी के जर्नल में खूब प्रशंसित हुआ था।

मार्ग-दर्शन पाने की आन्तरिक इच्छा थी और तर्क-विचार की ओर ज्यादा ध्यान नहीं था। यह प्रवृत्ति गिरीश के चरित्र में नहीं थी। अपनी क्षुद्र एवं विचार मन की तरंग से प्रेरित हो कालीपद पतन के जीवन में गिर पड़े थे और उनकी आन्तरिक भक्तिभावना तथा विवेक दब गये थे। अपनी इस दयनीय स्थिति से किसी प्रकार उबरने की कोशिश में कभी-कभी वे धार्मिक उत्सवों और अनुष्ठानों में भाग लेते। धर्मनिष्ठ पत्नी की उनको सही मार्ग पर लाने की सतत चेष्टा से भी उन्हें कभी-कभी अपने किये पर पश्चात्ताप होता। उनके मन में यह धारणा घर करने लगी थी कि उच्चतर सत्ता में विश्वास ही उन्हें उबार सकता है और कभी-कभी उनमें किसी गुरु की शरण लेने की आन्तरिक इच्छा जाग उठती।

१८८४ के उत्तरार्ध में एक अनहोनी घटना घटी।[४] एक दिन दोपहर में कालीपद गिरीश के साथ दक्षिणेश्वर के परमहंस से मिलने जा पहुँचे। गिरीश के आग्रह से कहीं अधिक, अपनी उत्सुकता ने ही कालीपद को रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर-स्थित काली-मन्दिर में जाने को प्रेरित किया था। वे अपने मित्र तथा मार्गदर्शक गिरीश के गुरु को देखने भर आये थे।

पहली दृष्टि में वह उद्यान किसी अच्छी तरह रख-रखाव किये हुए मन्दिर-प्रांगण के जैसा ही लगा। कालीपद श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट होने के लिए आगे बढ़े। उनका ऊँचा कद, भारी शरीर, गेहुँआ रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, मुस्कुराता हुआ चेहरा उनके आत्मविश्वास और हँसमुख स्वभाव की बात कह रहे थे। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण का शरीर क्षीणकाय है, पर उनके विशिष्ट रूप से आकर्षक मुख-मण्डल ने कालीपद को विचित्र रूप से झकझोर दिया। वे श्रीरामकृष्ण के दीप्त चेहरे की ओर मंत्रमुग्ध-से देखते रह गये। गिरीश की नकल पर उन्होंने भी श्रीरामकृष्ण का अभिवादन किया।[५] गिरीश ने ठाकुर से कालीपद का परिचय अवश्य कराया होगा।

किसी व्यक्ति को सामान्य तथा आध्यात्मिक रूप से परखने में विशेष दक्ष श्रीरामकृष्ण ने तत्काल ही कालीपद के रूप में उस भटके व्यक्ति को पहचान लिया, जिसकी पत्नी ने काफी समय पहले उनसे प्रार्थना की थी। जैसा कि उनका स्वभाव था, उन्होंने कालीपद की आध्यात्मिक योग्यता को भी आँक लिया और जान लिया कि उनकी दिव्य लीला में उन्हें भी एक भूमिका निभानी है। वार्तालाप के दौरान श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बताया कि राखाल के पिता यद्यपि एक धनवान व्यक्ति हैं, पर सदा मुकदमेबाजी में फँसे रहते हैं; उनको विश्वास हो गया कि चूँकि राखाल उनके संरक्षण में है, अत: वे ऐसे तीन मुकदमे जीत गये हैं, जिनमें जीतने की उम्मीद नहीं थी। उसी दिन कालीपद के भी तीन मुकदमों की तारीख थी। हार की पूरी सम्भावना देख कालीपद उस दिन कचहरी ही नहीं गये।

यद्यपि कहीं लिखा नहीं है, तो भी यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण ने अपने सुपरिचित अन्दाज में 'फिर आना' कहकर उन लोगों को विदा दी। दक्षिणेश्वर से जाते समय कालीपद को यह अनुभव करके अचरज हुआ कि सन्त ने उनके हृदय को रहस्यमय रूप से बाँध लिया है।[६] घर लौटकर कालीपद को और अधिक आश्चर्य यह जानकर हुआ कि वे उन तीनों मुकदमों को जीत गये हैं। इससे वे भी श्रीरामकृष्ण की कृपाशक्ति को मानने के लिए बाध्य हो गये। उन्हें अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा कि उन्होंने अपनी उद्धतता के कारण श्रीरामकृष्ण के साथ उचित व्यवहार नहीं किया।[७] उनके मन में भक्ति का ज्वार उमड़ पड़ा।

कालीपद के हृदय में श्रीरामकृष्ण के पुन:दर्शन की लालसा तीव्रतर होती गयी। शीघ्र ही वह पूरी भी हुई। वे एक किराये की नौका से वहाँ पहुँचे। श्रीरामकृष्ण दोपहर के विश्राम के बाद अपनी खाट पर बैठे थे। उन्होंने कालीपद का एक मित्र की भाँति स्वागत किया। श्रीरामकृष्ण ने कलकत्ता जाने की इच्छा व्यक्त की। एकान्त में रहनेवाले श्रीरामकृष्ण का यह प्रस्ताव कालीपद के लिए रहस्यमय था। पर उसने उनके इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और अपने साथ नौका में चलने की प्रार्थना की। किराये की नौका उन लोगों की प्रतीक्षा कर रही थी। श्रीरामकृष्ण अपने सेवक लाटू को साथ लेकर कालीपद के संग नौका में कलकत्ता के लिए रवाना हुए।

वार्तालाप करने पर श्रीरामकृष्ण को पता चला कि कालीपद जगदम्बा के भक्त हैं, पर चूँकि किसी साधारण गुरु में उनका

४. स्वामी गम्भीरानन्द के अनुसार यह १८८४ के प्रारम्भ की घटना है ('श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका', भाग २, सं. १९८९, पृ. ३४२)। गिरीश चन्द्र घोष की श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट सितम्बर १८८४ के प्रारम्भ में हुई थी और दूसरी भेंट २१ सितम्बर १८८४ को स्टार थियेटर में। गिरीश चन्द्र कालीपद को श्रीरामकृष्ण के यहाँ तभी ले गये, जब उन्हें श्रीरामकृष्ण की महत्ता पर विश्वास हो गया। इस प्रकार कालीपद की प्रथम भेंट नवम्बर १८८४ में या उसके बाद ही हो सकती है।

५. 'पुँथी', पृष्ठ ४७७ के अनुसार कालीपद दक्षिणेश्वर अकेले गये थे। इस अवसर पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण को नमस्कार नहीं किया था।

६. अपने दक्षिणेश्वर के दिनों की याद करते हुए लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) ने कालीपद की प्रथम भेंट का एक अलग ही वर्णन किया है। लाटू महाराज के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने कालीपद से पूछा था, 'बोलो जी, तुम्हें क्या चाहिए?' दानाकाली भी इतना दुष्ट था कि उनसे बोला – 'थोड़ा मद्य दे सकेंगे?' ठाकुर हँसकर बोले – 'हाँ, दे सकूँगा, पर यहाँ के मद्य का नशा बड़ा तेज होता है, तुम सह नहीं सकोगे।' ... दानाकाली ने न जाने क्या सोचा, बाद में मैंने उसे कहते सुना – 'वही सुरा मुझे दीजिए जिसे पीने पर मैं सारा जीवन नशे में डूबा रह सकूँ।' इसके बाद ही ठाकुर ने उसे स्पर्श कर दिया। उनके छूते ही दानाकाली खूब रोने लगा। सब मिलकर भी उसे चुप न करा सके थे। (चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय लिखित 'अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द', नागपुर, सं. १९९१, पृ. ९६)

७. 'तत्त्वमंजरी' (बँगला मासिक), भाग ९, अंक ४, पृ. ९१

विश्वास नहीं है, इसलिए उन्होंने अभी तक किसी से दीक्षा नहीं ली है और वे किसी सिद्ध महात्मा की खोज में हैं। उच्च भावावस्था में श्रीरामकृष्ण ने कालीपद को अपनी जीभ निकालने को कहा। कालीपद के द्वारा वैसा किये जाने पर श्रीरामकृष्ण ने अपनी अँगुली से उस पर कुछ लिख दिया और उन्हें वह पवित्र मंत्र जपने को कहा। कालीपद को अनुभव हुआ मानो उनकी छाती में कुछ उठ रहा है। यद्यपि इससे उन्हें अपने भीतर एक प्रकार के उबाल का अनुभव हुआ, पर तब भी वे अलौकिक कृपा का महत्त्व नहीं समझ सके थे।[८] जैसा अवर्णनीय आनन्द उन्हें मिला, वैसा इससे पहले कभी नहीं मिला था। अब उन्हें पता लगा कि श्रीरामकृष्ण उन्हीं के घर जाने को निकले हैं। इस अहैतुकी कृपा से भावविह्वल हो कालीपद उन्हें तथा लाटू को बड़े स्नेह और श्रद्धा के साथ एक भाड़ा-गाड़ी में अपने श्यामपुकुर स्ट्रीट के मकान पर ले गये।

नवम्बर का महीना था। जिस कमरे में श्रीरामकृष्ण को बिठाया गया था, उसमें हिन्दू देवी-देवताओं के कई बड़े-बड़े तैल-चित्र टँगे हुए थे। उन चित्रों को देख श्रीरामकृष्ण आनन्दित हुए और जल्दी ही भावसमाधि में डूब गये। वे कुछ मधुर स्तुतियाँ गाने लगे। फिर वे मौन हो गये। देखते ही देखते मानो किसी जादू से वे चित्र जीवन्त प्रतीत होने लगे।[९] इस अपूर्व घटना ने कालीपद पर बहुत गहरा प्रभाव डाला था।

संसार में निर्लिप्त भाव से रहने से बढ़कर दूसरी कोई साधना नहीं है, तो भी कालीपद ने अब अपने जीवन को सुधारना शुरू किया। आध्यात्मिक जीवन के अधिकांश साधकों की भाँति कालीपद का वैराग्य भी बीच-बीच में डोल जाता। वे अपनी बुरी आदतों को छोड़ देते तथा फिर ग्रहण कर लेते, फिर छोड़ते, फिर ग्रहण करते। इस प्रकार तब तक चलता रहा, जब तक कि वैराग्य मजबूत नहीं हो गया। बहुतों की धारणा थी कि वह ज्यादा समय तक नहीं टिक पायेगा, पर वह वैराग्य वास्तव में उसके जीवन के अन्त तक बना रहा। सूक्ष्म रूप से ही सही, पर निश्चित रूप से श्रीरामकृष्ण उसे सांसारिकता से ऊपर उठाकर अपने भक्तों के दल में ले आ रहे थे। लगता है कि चरित्र-गठन के अपूर्व कारीगर श्रीरामकृष्ण ने कालीपद पर कोई कठोर नियम नहीं थोपा था, अपितु उनके प्रति अपना अहैतुक स्नेह बरसाया था। कालीपद भी क्रमशः उठते गये। श्रीरामकृष्ण इतने उदार थे कि कालीपद ने एक दिन आनन्दपूर्वक भक्तों से कहा था, "हमारे ये ठाकुर अच्छे हैं! जप, ध्यान, तप आदि कुछ भी नहीं करना पड़ता।"[१०] तो भी उसका मन सहज रूप से श्रीरामकृष्ण में लगा रहता, जिनका मौन प्रभाव उसके जीवन के परिवर्तन में जादू-जैसा काम कर रहा था।

८. 'पुँथी', पृ. ४७७-७८ एवं 'तत्त्वमंजरी', वर्ष ९, अंक ४, पृ. ९२; **९.** 'भक्तमालिका', भाग २, सं. १९८९, पृ. ३४२। **१०.** 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', भाग २, सं. १९९९, पृ. १०५४

समय आने पर कालीपद श्रीरामकृष्ण के इतने पक्के भक्त बन गये कि उन्होंने अपने कमरे में सारदादेवी की भी तस्वीर नहीं रखी थी। पूछने पर वे श्रीरामकृष्ण की तस्वीर के सामने हाथ जोड़ प्रणाम करते और कहते, "ये ही हमारे पिता हैं और ये ही हमारी माता भी।" ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, कालीपद के हृदय में प्रेम और भक्ति प्रस्फुटित होने लगी तथा इसके साथ-ही-साथ उनके भीतर की लम्पटता और सांसारिक महत्त्वाकांक्षाएँ घटने लगीं। परवर्ती जीवन में वे डंके की चोट पर कहते, "यद्यपि मैं जगाई-मधाई की भाँति दुष्कर्मों में प्रवृत्त था, फिर भी ठाकुर ने मुझे अपना समझकर मुझ पर कृपा की।"[११] गिरीश की भाँति ही श्रीरामकृष्ण ने कालीपद को भी अन्य दूसरे भक्तों की अपेक्षा कई छूटें दे रखी थीं। यद्यपि उनके विरुद्ध कई शिकायतें थीं – और वे प्रामाणिक भी रहतीं – पर श्रीरामकृष्ण ने कभी "तुम ऐसा मत करो" वाला निषेधात्मक उपदेश देकर समय नष्ट नहीं किया। बल्कि उन्होंने उनके चरित्र में जो छिपी हुई अच्छी, पवित्र तथा सुन्दर प्रवृत्तियाँ थीं, उन्हें उभारा। इस प्रकार विधेयात्मक उपाय से कालीपद के लिए सुधरना सरल था। १८ अक्तूबर १८८५ को श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "कालीपद ने कहा है, उसने शराब पीना एकदम छोड़ दिया है।"[१२]

हृदय और मस्तिष्क के बिरले गुणों से सम्पन्न कालीपद श्रीरामकृष्ण के भक्तों के बीच शीघ्र ही प्रिय हो गये। व्यवस्था करने में निपुण होने के कारण किसी प्रकार की भी कठिन परिस्थिति को सम्हालने के लिए वे खुशी से तत्पर रहते। श्रीरामकृष्ण अक्सर उन्हें 'मैनेजर' कहते। वे पाकशास्त्र में भी बहुत निपुण थे, इसलिए भक्त लोग विनोद में उन्हें कभी 'गृहिणी' भी कहा करते। उनकी कलात्मक विशेषताओं में संगीत के गायन एवं वादन दोनों रूपों की उल्लेखनीय प्रतिभा थी। एक दिन जब उन्होंने बाँसुरी पर मधुर तान छेड़ी, उसे सुन श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये थे। एक अन्य दिन बागबाजार में बलराम बोस के घर में गिरीश चन्द्र घोष और कालीपद ने मिलकर बहुत मस्ती से गाया था, जिसका भावार्थ था –

"मेरा मन न जाने क्यों विकल हो रहा है। (निताई) मुझे धरो। (निताई) जीव को हरिनाम बाँटने के लिए प्रेमनदी में लहर उठने लगी, उस लहर में अब मैं बहता जा रहा हूँ।[१३]

दूसरी मंजिल का हॉल खचाखच भरा था। पश्चिमी कोने में श्रीरामकृष्ण पूर्व की ओर मुख किये गहरी समाधि में डूब गये।

जब गले के रोग से पीड़ित श्रीरामकृष्ण को उपचार हेतु श्यामपुकुर ले जाया गया था, तब कालीपद ने किराये के नये मकान को व्यवस्थित करने में बड़ी मेहनत की थी। घर की आवश्यक वस्तुओं को जुटाने के साथ-साथ उन्होंने दीवाल

११. वैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत' (बँगला) द्वि. सं., पृ. ३३३; **१२.** 'वचनामृत', भाग २, सं. १९९९, पृ. १०२०

पर देवी-देवताओं की तस्वीरें भी टँगवाया था, जिससे श्रीरामकृष्ण वहाँ अधिक से अधिक सुविधापूर्वक रह सकें। फिर कालीपद ने ही विनोदिनी दासी को ठाकुर से मिलवाया था। विनोदिनी ने गिरीश घोष के नाटक में चैतन्य का अभिनय किया था, जिसे सबने उच्च कण्ठ से सराहा था और श्रीरामकृष्ण ने भी उस पर प्रसन्न हो कृपा की थी। उसमें अस्वस्थ सन्त को देखने की तीव्र इच्छा थी। पर श्रीरामकृष्ण के पास वह पहुँचे कैसे? तब कालीपद ने उस अभिनेत्री को पश्चिमी वेशभूषा के कोट-पैंट पहनाकर पुरुष-रूप में सजाया और सेवकों की दृष्टि बचा कर उसे श्रीरामकृष्ण के सामने ले गये। अतिथि की पहचान होने पर श्रीरामकृष्ण खूब हँसे थे और उसे उपदेश दिया था।

विश्वास से कृपा उपजती है। १८८५ की कालीपूजा का दिन था। ठाकुर के आदेश से भक्तों ने, विशेषकर कालीपद ने, श्रीरामकृष्ण के कमरे में माँ-काली की पूजा की व्यवस्था की थी। ठाकुर के सामने पुष्प, चन्दन, बेलपत्ते, लाल जवा, नैवेद्य के लिए खीर और विभिन्न प्रकार की मिठाइयाँ तथा अन्यान्य पूजा-सामग्री रख दी गयी। लगभग तीस भक्त वहाँ एकत्रित थे। ठाकुर ने समस्त चीजें माँ को अर्पित कीं। ठाकुर की सलाह पर सब उनके सम्मुख बैठकर ध्यान करने लगे। तब गिरीश चन्द्र को ऐसा आभास हुआ मानो ठाकुर उन लोगों को स्वयं अपने (ठाकुर के) भीतर ही जगन्माता की पूजा करने का सौभाग्य दे रहें। अपनी छोटी-सी भी तरंग को पूरा करने में सदैव तत्पर रहनेवाले गिरीश ने पुष्पों की माला श्रीरामकृष्ण के चरणों में अर्पित की। कालीपद और अन्य सब ने भी वैसा किया। श्रीरामकृष्ण के भीतर एक भावतरंग प्रवाहित हो गयी और वे समाधिस्थ हो गये। मुखमण्डल दैवी ज्योति से दीप्त था। उनके दोनों हाथ वराभयदायिनी जगदम्बा की मूर्ति के सदृश उठे हुए थे।''[१४] कालीपद के लिए यह एक अति प्रेरक अनुभव था। अन्य लोगों की भाँति कालीपद ने भी विस्मयपूर्वक अनुभव किया कि जगदम्बा ही श्रीरामकृष्ण के रूप में प्रकट हो उन लोगों को आशीर्वाद दे रही हैं। विशेष पूजा के बाद भक्तों ने भावपूर्ण कीर्तन और नृत्य किया।[१५]

ठाकुर ने कालीपद पर अकेले में भी कृपा की थी। २३ दिसम्बर १८८५ को काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण ने अपने भक्तों के प्रति प्रेम की निर्बाध अभिव्यक्ति की थी। कालीपद के हृदयस्थल का स्पर्श कर उन्होंने कहा था, ''चैतन्य हो।'' फिर उनकी ठुड्डी को स्नेह से पकड़कर उन्होंने उच्च भावावस्था में कहा था, ''जिसने हृदय में ईश्वर को पुकारा होगा, जिसने सन्ध्योपासना की होगी, उसे यहाँ आना ही होगा।''[१६] इस बिरली कृपा को पा कालीपद अभिभूत हो उठे, उन्होंने पहले कभी ऐसी आनन्दानुभूति की कल्पना भी नहीं की थी।

कालीपद उन भक्तों की श्रेणी के थे, जो श्रीरामकृष्ण को यह मानते थे कि वे एक अवतार हैं और उनकी बीमारी सिर्फ एक लीला है, जिसके द्वारा कोई बड़ा गहरा उद्देश्य पूर्ण होगा, और जब यह उद्देश्य पूरा हो जाएगा, तब वे इस घातक रोग से स्वयं को मुक्त कर लेंगे। स्वामी सारदानन्दजी ने लिखा है, ''कालीपद सभी बातों में गिरीश के ही अनुगामी थे और इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि कोई दुराचारी यदि पछताकर उन (श्रीरामकृष्ण) का चरण स्पर्श कर ले, तो उससे उनका रोग बढ़ जाएगा, क्योंकि उनकी धारणा थी कि श्रीरामकृष्ण युगावतार हैं,''[१७] अत: वे कर्म के नियम से परे हैं।

परन्तु श्रीरामकृष्ण तो स्वस्थ होनेवाले न थे, इसलिए जब अगस्त १८८६ में वे महासमाधि में लीन हो गये, तब कालीपद को बिछोह का भारी सदमा पहुँचा। भवसागर से पार ले जानेवाला जहाज, जिस पर वे आश्रित थे, अब आँखों से ओझल हो गया था और इसलिए कालीपद भयभीत थे कि कहीं वे फिर से न डूब जाएँ। पर इस प्रकार की निराशा से टूटने की बजाय उन्होंने ठाकुर के दिये हुए अनमोल आश्वासन और विश्वास का सम्बल लिया। ठाकुर की छबि के सामने बैठकर वे गहरी आन्तरिकता के साथ प्रार्थना करते, ''हे ठाकुर, दया करो, अपना दर्शन दो!''[१८]

कालीपद उन प्रथम लोगों में से थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव मनाना प्रारम्भ किया था – यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में भी।[१९] मनोमोहन मित्र और कालीपद घोष जैसे भक्तों ने रामचन्द्र दत्त को श्रीरामकृष्ण के नाम-प्रचार के प्रयत्नों में सब प्रकार से सहायता की थी।[२०] रामचन्द्र दत्त के व्याख्यानों के प्रारम्भ और अन्त में गाये गीतों में से अधिकांश कालीपद द्वारा रचित होते। बम्बई में भी कालीपद ने श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव बड़े पैमाने पर मनाया था।[२१] इन उत्सवों की सफलता अधिकतर कालीपद की आन्तरिकता और अथक परिश्रम के कारण हुई थी।

रामकृष्ण संघ के प्रारम्भिक दिनों में वराहनगर मठ में उनसे जितना बन सकता, वे सहायता करते रहते। जब उनकी उसी विलायती कम्पनी में और ऊँचे पद पर बम्बई बदली हो गयी, तब भी उनकी सहायता वराहनगर मठ को बराबर मिलती रहती। रामकृष्ण संघ के जो संन्यासी उस तरफ भ्रमण पर जाते, वे अपने ठाकुर के इस प्रिय भक्त के यहाँ जरूर जाते।

श्रीरामकृष्ण के प्रति कालीपद का जो अगाध प्रेम था,

१३. लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ९२१। **१४.** वचनामृत, भाग २, पृ. १११७; **१५.** उद्बोधन (बँगला मासिक), वर्ष ७५, अंक ७

१६. वचनामृत, भाग २, पृ. १११९। **१७.** लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ९५३। **१८.** कहते हैं कि कालीपद ने ३० नं. श्यामपुकुर स्ट्रीट की तीसरी मंजिल वाले कमरे में कुछ दिन स्वयं को बन्द करके रखा था। लगता है वे कुछ दिव्य दर्शन पाकर धन्य हुए थे। **१९.** रामचन्द्र दत्त : 'श्रीश्रीपरमहंस रामकृष्णदेवेर जीवन-वृत्तान्त (बँगला), तृतीय सं., पृ. १३०; **२०.** 'भक्त मनोमोहन' (कलकत्ता, १३५१ बं.), पृ. १७८

उसकी झलक नवगोपाल घोष के घर पर आयोजित वार्षिक उत्सव में देखने को मिली थी। काँकुड़गाछी के भक्त लोग करताल और मृदंग ले कीर्तन कर रहे थे जबकि कालीपद चुपचाप अन्य भक्तों के साथ बैठे थे। जैसे ही गिरीशचन्द्र वहाँ उपस्थित हुए, लोग और उत्साह से मृदंग बजाने लगे। इससे गिरीश और कालीपद दोनों एकदम नृत्य करने लगे। उनके भारी-भरकम शरीर के ऊपरी भाग में वस्त्र नहीं था और वे लय-ताल के साथ आगे-पीछे हो रहे थे। नवगोपाल ने दोनों को माला पहनायी। कुछ समय बाद वे दोनों एक दूसरे के हाथ में हाथ मिला स्थिर खड़े हो गये। उनके नेत्र मुँदे हुए थे तथा मुख से 'रामकृष्ण, रामकृष्ण' उच्चारित हो रहा था। उनका मुखमण्डल श्रीरामकृष्ण की कृपा पाकर दीप्त हो उठा था। भक्त-मण्डली खूब उत्साह से भरकर ताल में कीर्तन और नृत्य करती रही। वह सचमुच एक बिरला दृश्य था।

कालीपद कभी किसी से व्यक्तिगत सेवा नहीं लेते थे, बल्कि स्वयं ही सबकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहते। उनके रोष की कीमत पर ही कोई उनकी पदधूलि ले सकता था। क्रोध और अहंकार लगभग उनमें से मिट गये थे। एक बार एक दुष्ट ने जब उनके गाल पर एक तमाचा जड़ दिया, तब तगड़े कालीपद ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। जब मित्रों ने प्रतिरोध करने के लिए कहा, तो वे नम्रता से बोले, "क्या उस दुष्ट ने मुझे मारा है? मैं श्रीरामकृष्ण का सेवक हूँ, मुझे कौन मार सकता है? वे तो रामकृष्ण ही थे, जिन्होंने उस दिन मुझे मारा !"[२२] उनका यह ज्वलन्त विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण ने उनका भार ले लिया है। उनके साहस और उदारता को देख नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) ने कालीपद का नाम 'दानाकाली'* रखा था। कालीपद बहुत विशाल हृदय वाले व्यक्ति थे तथा उदार दान तथा अडिग विश्वास के लिए प्रसिद्ध थे, इसलिए नरेन्द्र का दिया नाम उन पर बिल्कुल ठीक बैठता था।

१७ जनवरी १८९९ को रामचन्द्र दत्त की मृत्यु के बाद श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, काँकुड़गाछी, जहाँ श्रीरामकृष्ण की पवित्र अस्थियों की पूजा होती थी, की व्यवस्था का भार कालीपद ने अपने ऊपर ले लिया।[२३] श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी निष्ठा तथा भक्ति उनके घर में तथा नौकरी में दोनों जगह दिखती थी। उनकी बहन श्रीमती महामाया मित्र श्रीरामकृष्ण की बड़ी भक्त थीं।[२४] उनके तीन पुत्रों और दो कन्याओं में[२५] सबसे बड़ा बारेन्द्रकृष्ण सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न था। वह ४७ वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हो गया, पर अपने पिता के सिद्धान्तों में उसकी निष्ठा के कारण उसका स्मरण किया जाता है।[२६] कालीपद अपने हर कार्य और उपलब्धि में श्रीरामकृष्ण की कृपा का अनुभव करते। उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने घर में तथा जिस विलायती फर्म में काम करते, उसके प्रमुख एवं शाखा केन्द्रों में श्रीरामकृष्ण की छबि लगाकर की थी।

कालीपद ने अपने मित्रों से कहा था, "मैंने श्रीरामकृष्ण से वैसे तो कभी कोई प्रश्न नहीं पूछा। एक बार मैंने उनसे आश्वासन ले लिया और सन्तुष्ट हो गया। मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि मृत्यु के समय वे मुझे एक हाथ से पकड़कर तथा दूसरे में लालटेन लेकर ले जायँगे। श्रीरामकृष्ण ने उसे सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा था, 'तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी'।" २८ जून १९०५ को रात्रि ९-३० बजे मृत्यु के समय कालीपद के हाथ आगे बढ़े हुए थे और चेहरा दमक रहा था। समीप उपस्थित लोगों को जिनमें स्वामी प्रेमानन्दजी[२७] भी थे, ऐसा लगा मानो श्रीरामकृष्ण ने कालीपद को दिये वचन को अक्षरशः पूर्ण किया है। यह ३० नं. श्यामपुकुर स्ट्रीट के मकान की तीसरी मंजिल के कमरे की घटना है।

कालीपद का जीवन इस बात का जीवन्त प्रमाण है कि श्रीरामकृष्ण की कृपा कितने अद्भुत रूप से कार्य करती है। जैसे पारस लोहे को स्वर्ण में बदल देता है, वैसे ही श्रीरामकृष्ण ने, भोग तथा मदिरा में डूबे हुए संसारी जीव कालीपद घोष को एक ऐसे सन्त में रूपान्तरित कर दिया, जो विश्वास में जिया और जिसने रामकृष्ण की गोद में चिरविश्राम पाया। मृत्यु के समय की उनके चेहरे की चमक सदा गृहस्थ भक्तों के हृदय में आशा और विश्वास का संचार करती रहेगी।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

२१. शंकरी प्रसाद बसु : 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' (बँगला), भाग २, पृ. १७३। **२२.** "तत्त्वमंजरी", वर्ष ९, अंक ४, पृ. ९३। * बँगला के 'दाना' शब्द का अर्थ होता है 'दानव'। **२३.** 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली' (बँगला), भाग १, तृतीय सं., पृ. १४२। **२४.** कालीपद के एक भाई थे तारापद और दो बहनें थीं महामाया मित्र एवं योगमाया बसु। **२५.** कालीपद के दो कन्याएँ थीं और तीन पुत्रों में बारेन्द्र सबसे बड़े तथा हरेन्द्र और धरेन्द्र जुड़वा थे।

२६. बारेन्द्रकृष्ण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों को ध्यान में रखकर ही 'उद्बोधन' (वर्ष २९, अंक १२, पृ. ७५४-६२) में उनकी मृत्यु पर लम्बा शोक-सन्देश प्रकाशित किया गया था। उनकी बहुत सी उपलब्धियों में उल्लेखनीय थी अहमदाबाद में १९०८ में 'श्रीरामकृष्ण मिल्स' और १९१९ में 'श्री विवेकानन्द मिल्स' इन दो कपड़ा-मिलों की स्थापना करना। **२७.** स्वामी अद्भुतानन्दजी के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने स्वयं कालीपद से उनकी आन्तरिक इच्छा पूछी थी। और जैसे ही उन्होंने व्यक्त किया, श्रीरामकृष्ण ने 'तथास्तु' कहा। स्वामी प्रेमानन्द कालीपद की मृत्युशय्या के पास उपस्थित थे, उनसे सुनकर स्वामी अद्भुतानन्दजी ने बाद में कहा था, "देखो ! श्रीरामकृष्ण कालीपद के अन्तिम समय में उसके पास आये थे और उसे अपने साथ ले गये। बाबूराम भाई (स्वामी प्रेमानन्द) ने इसे स्पष्ट देखा था। ठाकुर द्वारा दिये गये वचन अक्षरशः पूरे उतरे थे।" – देखें – चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय लिखित 'अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द', नागपुर, सं. १९९१, पृ. २६८); साथ में देखें, 'तत्त्वमंजरी', भाग ९, अंक ४, पृ. ९४।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२३४. तन को 'मैं' 'मैं' मत करो

एक बार देवराज इन्द्र और दैत्य विरोचन में इस बात पर विवाद हुआ कि हम हमेशा 'मैं' 'मैं' की रट लगाते हैं, पर यह 'मैं' है कौन? इसे जानने के लिए प्रजापति के पास गए। उन्होंने कहा, ''हमें 'मैं' कौन है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पा रहा है। उसे जानने के लिए हम आपके पास आए हैं।''

प्रजापति बोले, ''यदि थाली में जल भरकर उसमें देखोगे, तो इसका उत्तर मिल जायगा।'' दोनों ने अलग-अलग थालियों में जल भरा और उसमें देखने लगे। विरोचन को जब जल में अपना सुन्दर रूप दिखाई दिया, तो वे स्वयं पर मुग्ध हो गये और चिल्ला उठे, '' 'मैं' का पता मुझे चल गया है। मैं यानी अपनी देह। देह जो कुछ भी करता है, वह मैं ही करता हूँ।''

इधर जब इन्द्रदेव को थाली में अपना प्रतिबिम्ब दिखा, तो वे सोचने लगे – इसमें जो आकृति दीख रही है, वह आज सुरूप है, पर कल कुरूप भी हो सकती है। अत: इसे निश्चित रूप से 'मैं' नहीं कहा जा सकता। यदि 'मैं' सुरूप न दिखाई दे, तो इसे निखारने हेतु इसे सुन्दर वस्त्र-आभूषणों से सज्जित करना होगा। पर तब क्या यह 'मैं' कहलाएगा? अत: जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सच्चा 'मैं' नहीं होगा। जिस देह को 'मैं' माना जाता है, यदि इसकी चमड़ी निकाल दी जाए, इसे रक्त-माँस-मेद-मज्जा आदि से रहित कर दिया जाए, तब कंकाल हो जाने पर क्या यह 'मैं' कहलाएगा? इसलिए इस शरीर को सच्चा 'मैं' मानकर उस पर उल्लसित होना या उस पर दम्भ करना उचित नहीं। 'मैं' का स्वरूप कुछ और ही है।

२३५. योग्यता की परीक्षा

एक बार सन्त गाडगे महाराज के पास तीन युवक आए और बोले कि वे उनका शिष्य बनना चाहते हैं। गाडगेजी ने उनके वस्त्र देखकर मन ही मन में सोचा कि इनकी परीक्षा लेकर देखना चाहिए कि क्या ये शिष्य बनने के योग्य हैं और क्या ये लोगों की सेवा कर सकेंगे? कहीं ऐसा तो नहीं कि ये यह सोचकर आये हों कि यहाँ मन्दिर में अच्छा खाने-पीने को मिलेगा! उन्होंने तीनों से अलग-अलग प्रश्न किया, ''बताओ, आँख और कान में कितना अन्तर है?'' पहले ने कुछ सोचकर कहा, ''तीन उंगलियों का।'', दूसरा बोला, ''कान धोखा दे सकते हैं, पर आँखों देखा सच होता है, अत: आँखें कानों से श्रेष्ठ हैं।'' तीसरे ने बताया, ''आँखें केवल दिखाने का काम करती हैं। भगवान की प्रतिमा दिखने पर वे हाथों को प्रणाम करने के लिए प्रेरित करती हैं। उसके बाद मनुष्य भगवान को भूल जाता है, पर कान भजन, कीर्तन या प्रवचन सुनकर मानव के मन में भगवान के प्रति अनुराग पैदा कराते हैं और उसे पूजा-अर्चना की प्रेरणा देते हैं। अत: मेरी दृष्टि में आँखों से कान श्रेष्ठ हैं।'' गाडगे महाराज ने पहले से कहा, ''तुम व्यापार अच्छा कर सकोगे। अपना धन व्यापार में लगाओ। यही तुम्हारे जीवन-निर्वाह की साधन होगा।'' फिर दूसरे से बोले, ''तुम कॉलेज की शिक्षा ग्रहण करो और वकालत की भी परीक्षा पास करो। वकील का पेशा तुम्हारे जीवन के लिए अच्छा है।'' फिर तीसरे व्यक्ति से कहा, ''तुम्हारी बातों से लगा कि तुम्हारी भगवान पर श्रद्धा है। पर यहाँ भगवान की भक्ति के साथ ही तुम्हें जनता-जर्नादन की भी सेवा करनी होगी। यदि इसके लिए तुम राजी हो, तो ये कीमती वस्त्र त्यागकर मेरे शिष्य बन सकते हो।''

२३६. पीड़ित का भी रखो ध्यान

१९४२ की बात है। अंग्रेज सरकार ने गाँधीजी को उनके साथियों को पूना के आगा खाँ महल में कैद कर रखा था। उनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू भी थीं। एक दिन शाम को श्रीमती नायडू ने गाँधीजी से कहा, ''बापू, क्या आप मेरे साथ बैडमिंटन खेलेंगे? मनोरंजन के साथ-साथ समय भी कट जायगा। गाँधीजी ने श्रीमती नायडू का दिल दुखाना न चाहा और बोले, ''अवश्य, तुम्हारे साथ खेलने में मजा आएगा।''

श्रीमती नायडू के दाहिने हाथ में चोट लगी होने से उस पर पट्टी बँधी हुई थी। उन्होंने बाएँ हाथ में दोनों रैकेट रखकर उनमें से एक को गाँधीजी को देने के लिये हाथ बढ़ाया। बापू ने उसे बाँए हाथ में ले लिया। जब श्रीमती नायडू ने दूसरी रैकेट बाँए हाथ में रखी और शटल कॉक पर मारने ही वाली थी कि उन्होंने गाँधीजी को बाएँ हाथ में रैकेट लेकर खड़े देखा। उन्हें हँसी आ गई। वे बोलीं, ''बापू, क्या आपको मालूम नहीं, रैकेट दाहिने हाथ में रखी जाती है? ''जानता हूँ'' बापू ने उत्तर दिया, ''तुमने भी तो रैकेट बाएँ हाथ में रखी है।'' ''हाँ, मैंने रैकेट बाएँ हाथ में रखी है, क्योंकि मेरे दाहिने हाथ में चोट है'' – श्रीमती नायडू ने खुलासा किया। गाँधीजी बोले, ''चलो, शुरू करें।'' श्रीमती नायडू ने कहा, ''पहले आप अपनी भूल सुधार लें। रैकेट अभी भी आपके बाएं हाथ में ही है।'' बापू बोले, ''तुम बाएँ हाथ से खेलोगी और मैं दाहिने हाथ से, तो यह बेईमानी होगी। आखिर मुझे भी तो पता चले कि बाएँ हाथ से खेलने से क्या कष्ट होता है।'' गाँधीजी ने श्रीमती नायडू को निरुत्तर कर दिया। आखिरकार दोनों बाएँ हाथ में ही रैकेट रखकर वैडमिंटन खेलने लगे।

सारगाछी की स्मृतियाँ (४)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

१४-१२-१९५८

सेवक – ब्रह्म का अर्थ क्या है?

महाराज – वे स्वभाविक हैं, बाकी हमलोग सब मानो अस्वभाविक हैं। प्रत्येक-व्यक्ति का किसी-न-किसी विषयों में लगाव है। जो लोग ईश्वर में स्थित रहते हैं, वे प्रिय-अप्रिय से मुक्त रहते हैं, इसलिये वे स्वाभाविक हैं। ''येषाम् साम्ये स्थितं मन: ।'' वे देह-मन-बुद्धि की क्रियाओं में आसक्त न होकर उसे साक्षी रूप में देखते हैं।

प्रश्न – किसी-किसी व्यक्ति के द्वारा आश्रम में रहने की इच्छा व्यक्त करने पर मैंने देखा है, आप प्राय: उनलोगों को मना कर देते हैं, निश्चय ही इसका कोई कारण होगा !

महाराज – संन्यास-आश्रम नि:श्रेयस – त्याग-धर्म का आश्रम है। गृहस्थाश्रम – अभ्युदय का आश्रम है। यदि गृहस्थ अधिक समय तक संन्यासियों के आश्रम में रहता है, तो उनलोगों की क्षति होती है। वे लोग देखते हैं – साधुलोग खा पी रहे हैं, बहुत आनन्द में हैं। वे लोग साधुओं के आन्तरिक संघर्ष (Inner Struggle) को तो समझ नहीं पायेंगे। उसके कारण वे लोग 'इतो नष्ट: ततो भृष्ट: – यहाँ से भी गये, वहाँ से भी गये, न घर के न घाट के। इसके अतिरिक्त साधुओं का स्तर धीरे-धीरे गिर जायेगा।

वे जो सज्जन आते हैं, ऐसे तो कितनी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। उस दिन उन्होंने कहा कि वे चापलूसी से पिघलते नहीं हैं। यहाँ तक कि ठाकुर की भी क्षमता नहीं है कि उन्हें पिघला सकें। इसी से उन सज्जन की मानसिकता समझ में आ जाती है। ठाकुर की इच्छा से सब कुछ हो रहा है और वे सज्जन कहते हैं कि उनकी भी क्षमता नहीं है। किसी ने कहा कि आप सभी को एक ही बात नहीं कहते हैं। क्या सभी को हमेशा एक ही बात कही जा सकती है ! रोगी का रोग जैसे-जैसे बदलता जाता है, वैसे-वैसे चिकित्सक अपनी दवायें नहीं बदलता है क्या? ठीक उसी प्रकार साधुओं का समदर्शन है, वे लोग ये सब कैसे समझेंगे? इसलिये कहता हूँ, संसारियों को साधुओं के साथ अधिक मिलना-जुलना ठीक नहीं है। उस दिन देखा नहीं, दर्शनशास्त्र में एम.ए. उत्तीर्ण हुए प्रोफेसर ने उस निष्ठावान ब्राह्मण को कहा – ''हमलोग आपलोगों से उदार हैं। हमलोग किसी को भी भगवान के कक्ष में प्रवेश करने की अनुमति दे सकते हैं।'' तब मैंने कहा – 'आप का लड़का आपसे भी उदार है, वह भगवान के कक्ष में पेशाब-पैखाना भी कर सकता है।

पूजनीय महाराज जी ने विभिन्न प्रसंगों में जो बातें कही थीं, उन्हें ही क्रमश: सजाकर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

१. कम भोजन अधिक बल। अधिक भोजन दुर्बल ।।

२. जंगल के मार्ग में जाते हुये एक के साथ और एक व्यक्ति के रहने से कुल दो नहीं, चार होते हैं। अ के साथ ब रहने से अ के मन में दो लोगों की शक्ति आ रही है। उसी प्रकार ब को भी दो लोगों की शक्ति मिल रही है। अत: कुल चार लोगों की शक्ति एकत्र हुई। इसी को संघ-शक्ति कहते हैं।

३. पाकर के दुसरों का धन। पिता-पुत्र करते कीर्तन ।।

सेवक : क्या इतने विराट ब्रह्मतत्त्व का हम लोगों के जीवन में पालन करना सम्भव है?

महाराज – हमलोगों के सम्मुख पचास प्रकार के व्यंजन – खाद्य सामग्री सजाकर रखी हुई है। यदि हमलोगों को केवल भात खाकर ही जाना पड़े, तो इससे अधिक दु:ख की बात और क्या हो सकती है?

४. किसी व्यक्ति ने एक अनाथ बच्चे को घर के नौकर के रूप में रखा। धीरे-धीरे नौकर अपने पुरुषार्थ से विकास करते-करते सम्राट हो गया। अर्थात् उसने अपने 'मैं' का विस्तार किया।

५. जो समष्टि कभी सच्चिदानन्द है, वही कभी महामाया है।

२०-१२-५८

आश्रम में एक व्यक्ति कार्य कर रहा है, किन्तु सब अव्यवस्थित देखकर महाराज ने कहा – संसार-त्याग का क्या अर्थ है? (इसका अर्थ है) – संसार का अतिक्रमण करना, उसे छोड़ना नहीं। जो लोग संन्यासी हैं, जो मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं – वे लोग यदि संसार की सामान्य वस्तु को ही व्यवस्थित नहीं कर सकते, तो उनलोगों का संन्यासी होना उचित नहीं है।

बाहर के जिन साधुओ को देखोगे, उन्हें बहुत सावधानी से विचार कर देख लेना। सुना नहीं, वे सज्जन कह रहे हैं –

केदार, बद्री के रास्ते के किनारे झोपड़ी बनाकर साधु लोग ध्यान में बैठे हैं। वे सज्जन उन साधुओं को बहुत अच्छा कह रहे हैं। यदि साधु ठीक होता, तो क्या वह रास्ते के किनारे बैठता? कुछ दिन पहले एक मौनी साधु आये थे, उन्होंने व्रत लिया है कि वे कुछ साल तक बात नहीं करेंगे, मौन रहेंगे। इधर जिस्ता-पर-जिस्ता अपनी ही बात लिखते चले जा रहे हैं। अरे बाप रे ! कितना चंचल मन है! कुछ दिन बाद ये भी 'मौनी बाबा' के नाम से विख्यात हो जायेगें। उस दिन तुम्हारे सामने एक साधु से किसी ने पूछा – आपका नाम क्या है? कौन महर्षि? उन्होंने मजाक में उत्तर दिया – "महर्षि नहीं, अर्शी। अभी-अभी मेरा अर्श (बबासीर) शुरू हुआ है, कुछ समय बाद महर्षि बनूँगा।"

कुछ दिन से प्रेमेश महाराज जी के अनुरोध से सेवक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा लिखित 'कृष्णचरित्र' नामक पुस्तक पढ़ रहा है। महाराज सुनकर कहने लगे, श्री कृष्ण ने भारतीय संस्कृति को उन्नत किया। उसके बाद बुद्ध ने आकर मोक्ष-लाभ का मार्ग दिखाया, जो केवल बुद्धिजीविओं के लिये लोक-प्रिय हुआ। बुद्ध ने सहानभूति की शक्ति से जगत् को बहुत ऊपर उठाया। इसके कारण मोक्ष साधारण लोगों के लिये भी सुगम हो गया। चैतन्यदेव ने सोचा कि साधारण लोगों के लिये मोक्ष नहीं है, मोक्ष तो कुछ लोगों के लिये ही है। यह समझकर उन्होंने उन लोगों के लिये भक्ति और हरिनाम पर जोर दिया। इस बार ठाकुर सब कुछ प्रस्फुटित करना चाहते थे, इसलिये सबके बारे में कहा, जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, वह उसे ग्रहण कर ले।

६. समाज जब पूर्व दिशा की ओर झुककर टेढ़ा हो जाता है, तो उसको सीधा करने के लिये पश्चिम दिशा की ओर बहुत खींचना पड़ता है, तब वह थोड़ा सीधा होता है। जैसे ब्राह्मण-युग में पशुबलि बढ़ी, तो बुद्ध ने अहिंसा का संदेश दिया।

०१-०१-१९५९, श्रीश्रीमाँ की तिथिपूजा

महाराज – "माँ को नहीं समझा, इसलिये माँ से दीक्षा लिया था, और एक व्यक्ति तो दीक्षा लेने की आवश्यकता ही नहीं समझा। मेरा अहंकार था कि मैं उन्हें उनको साधना करके प्राप्त कर लूँगा। जैसे एक आदमी काशी में जाकर शिवजी से भेंट करके पूछा – शिवजी के पास जाने के लिये किस मार्ग से आना होगा? शिवजी ने कहा – हवड़ा से ट्रेन पकड़ कर आना होगा। हमलोग भी ठीक वैसे ही हैं। मैं माँ सारदा को पूछा था, क्या तुमको पाने के लिये जप करना पड़ेगा? माँ थोड़ी हँसी थीं।

सेवक – क्या ज्ञान होने से अपना 'मैं' चला जाता है?

महाराज – तुमको बताया न कि अनाथ बालक सम्राट हो जाता है। 'मैं' बढ़ते-बढ़ते विश्वव्यापी हो जाता है।

२६-०१-१९५९

यह जगत तीन गुणों से बना हुआ है। उनमें से एक को भी छोड़ देने से नहीं चलेगा। कोई-कोई कहते हैं कि सत्ययुग में सभी लोग धार्मिक थे, किन्तु बिल्कुल ही ऐसा नहीं था। जगत् तो तीन गुणों की समष्टि है। चिरकाल से यही खेल चल रहा है। जिन्होंने इस जगत की सृष्टि की है, वे बड़े ही रसिक हैं। विस्मय में डालकर वे स्वयं दूर से देख रहे हैं और सम्पूर्ण आनन्द का उपभोग कर रहे हैं।

सेवक – शास्त्रों में है कि बिना अनुभूति से समबुद्धि नहीं होती, तो फिर हम लोग बौद्धिकता से (Intellectualy) जो कोशिश करते हैं, क्या वह पाखण्ड है?

महाराज – वैसा क्यों होगा, क्या यह साधना नहीं है? इसका प्रतिदिन अभ्यास करते-करते उनकी कृपा से अनुभूति क्यों नहीं होगी ?

१०.०२.१९५९

कुछ दिन से महाराज जी का शरीर स्वस्थ नहीं है। किसी भी आवाज से उनका हृदय काँप उठता है।

महाराज ने कहा – "क्या मैं अवसादग्रस्त (Melancholia) हो गया हूँ? सब कुछ से कष्ट हो रहा है। या सर्वं दुःखमयं जगत् – इस संसार का सब कुछ दुखमय है। देखो, एक सियार चिल्ला रहा है। हो सकता है, वह ठण्ड से अपने शरीर को बचाने का प्रयास कर रहा है। स्वयं को सियार का देह सोचकर कितना कष्ट पा रहा है ! वह देखो, हमलोगों का कर्मचारी चारा तैयार कर गाय को बुला रहा है – 'शीतला (गाय का नाम) खाओगी, आ जाओ! देखो देखो, शीतला दौड़कर खाने के लिए आ रही है। सम्पूर्ण विश्व का एक ही नियम है। प्रेम ! प्रेम यही एकमात्र धन है।"

❖ (क्रमशः) ❖
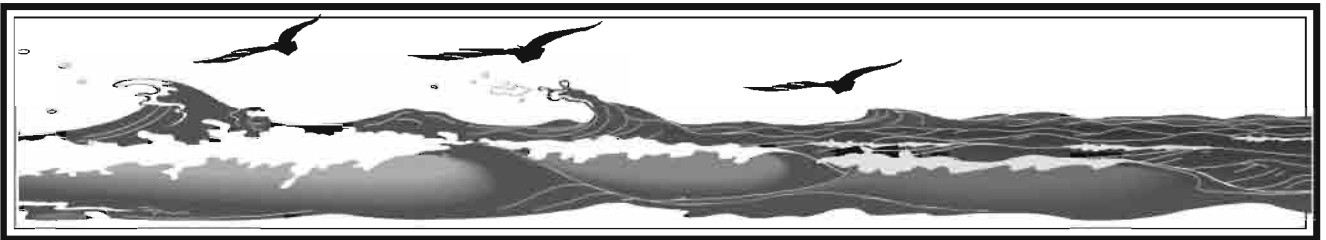
दुष्यन्त और शकुन्तला

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

राजा दुष्यन्त कुरुवंश के आदि पुरुष थे। वे अत्यन्त पराक्रमी तथा न्याय-परायण सम्राट् थे। उनके राज्य में सभी लोग धर्म-परायण थे। चोरों का कोई भय नहीं था, अन्न का कोई अभाव नहीं था। बीमारियाँ आदि भी कम थीं। लोग निर्भयतापूर्वक अपने-अपने कर्म तथा धर्म में तत्पर रहते थे।

दुष्यन्त का शरीर खूब मजबूत और बलशाली थी और वे हर प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के साथ युद्ध में कुशल थे। विशेषकर चार प्रकार के गदायुद्धों के तो वे विशेषज्ञ ही थे – वे दूर के शत्रु पर गदा का 'प्रक्षेप' करके प्रहार करते थे, निकट के शत्रु को गदा के 'विक्षेप' द्वारा प्रहार करते थे, जब शत्रु अनेक होते तो वे गदा को घुमाकर उसे उनके बीच 'परिक्षेप' कर देते थे और शत्रु को भगाते हुए वे उस पर गदा के अग्रभाग से 'अभिक्षेप' नामक प्रहार करते।

एक बार वे शिकार खेलने वन में गये। चारों ओर फैले रमणीय वन में वृक्ष-लताओं पर खिले हुए सुन्दर फूलों और कुंजों में चहचहाते तरह-तरह के पक्षियों को देखकर उनका मन आनन्द से परिपूर्ण हो रहा था। सुखपूर्वक परिभ्रमण करते हुए वे वक्रगति वाली निर्मल-सलिला मालिनी नदी के तट पर कश्यप-पुत्र कण्व मुनि के आश्रम में जा पहुँचे। मुनि तब आश्रम से अनुस्थित थे, पर उनकी पालिता कन्या शकुन्तला थी। राजा ने आश्रम के द्वार पर जाकर गुहार लगायी, "कुटीर में कोई है क्या?" सुनकर शकुन्तला निकली और राजा को पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि देकर उनके यथोचित आतिथ्य की व्यवस्था की। स्वागत तथा कुशल प्रश्न आदि के बाद उसने पूछा कि उनके आश्रम में आगमन का उद्देश्य क्या है?

राजा बोले, "मैं महर्षि कण्व का दर्शन तथा पूजन करने आया हूँ। वे कहाँ हैं?"

शकुन्तला – "वे फल-मूल का संग्रह करने हेतु दूसरे वन में गये हैं। शीघ्र ही लौटेंगे। आप थोड़ी प्रतीक्षा कीजिये।"

महर्षि आश्रम में नहीं हैं और परम रूप-लावण्यवती युवती शकुन्तला अकेली है – यह जानकर राजा का मन चंचल हो उठा। उन्होंने उसके प्रति आकर्षण अनुभव करते हुए पूछा, "तुम ऋषि की कौन लगती हो? और किसकी पुत्री हो?"

शकुन्तला – "मैं महात्मा कण्व की कन्या हूँ। मेरा नाम शकुन्तला है।"

दुष्यन्त – "वे तो ऊर्ध्वरेता तपस्वी हैं। तुम उनकी पुत्री भला कैसे हो सकती हो? मुझे सन्देह हो रहा है। कृपा करके मेरी शंका का निवारण करने से मैं बड़ा सुखी होऊँगा।"

शकुन्तला – "महाराज! एक बार मेरे पिता ने एक ऋषि को मेरे जन्म का वृत्तान्त सुनाया था। मैं पास ही उपस्थित थी। मैंने जो कुछ सुना था, वह आपको बताती हूँ। सुनिये –

"स्वर्ग की प्रधान अप्सरा मेनका मेरी माता हैं। महान् तपस्वी विश्वामित्र की कठोर तपस्या देखकर इन्द्र बड़े भयभीत हो गये थे। विश्वामित्र यह तपस्या कहीं इन्द्रपद की प्राप्ति के लिये तो नहीं कर रहे हैं – इस आशंका से उन्होंने मेनका को उसमें विघ्न डालने का आदेश दिया। देवराज की आज्ञा से मेनका विश्वामित्र को प्रलोभित करने के निमित्त उनके आश्रम में गयीं। जिनके तप के प्रभाव से तीनों लोकों के अधिपति इन्द्र भी भयभीत थे, उनके तपोभंग हेतु जाते हुए मेनका के मन में भी बड़ा भय लग रहा था, क्योंकि यदि वे क्रुद्ध होकर शाप दे दें, तो किसी में क्षमता नहीं कि वह उनकी रक्षा कर सके। वे वहाँ गयीं और कामदेव की सहायता से उनका शरीर अतुल्य रूप-यौवन से सम्पन्न तथा अनुपम आकर्षण से युक्त हो गया। उदासीन विश्वामित्र के अनजाने ही मेनका ने उनका चित्त हरण कर लिया और यथासमय वे गर्भवती हो गयीं। बाद में उन्होंने मालिनी नदी के तट पर मुझे जन्म दिया और निर्दयतापूर्वक मुझे यहीं छोड़कर पुनः इन्द्र के पास लौट गयीं।

"महर्षि कण्व जब स्नान करने गये, तो मुझ सद्योजात को देखकर उनके मन में करुणा आ गयी और वे मुझे आश्रम में लाकर अपनी पुत्री के समान मेरा यथाविधि पालन-पोषण किया। अतः मैं उन्हीं को अपने पिता के रूप में जानती हूँ, क्योंकि जन्मदाता के समान ही उन्होंने मेरी प्राणरक्षा की और अन्न देकर पालन किया, अतः महर्षि कण्व ही मेरे पिता हैं।"

दुष्यन्त – "कल्याणी! तुम्हारे जन्म का वृत्तान्त सुनकर मैं समझ गया कि तुम राजपुत्री हो, अतः मेरी पत्नी बन सकती हो। तुम गान्धर्व विधि से मेरे साथ विवाह करके मेरे साम्राज्य की अधीश्वरी बन जाओ – यही मेरी हार्दिक इच्छा है।"

शकुन्तला – "राजन्! मेरे पिता फल लाने गये हैं। उनके आने में अब ज्यादा देरी नहीं है। थोड़ी प्रतीक्षा कीजिये। वे निश्चय ही आपके हाथों में मेरा हस्तदान करेंगे।"

राजा बोले, "सुन्दरी! तुम्हारी आयु हो गयी है। अब तुम

अपना हित-अहित समझने में सक्षम हो गयी हो, अत: तुम्हारे शरीर पर अब तुम्हारा ही पूर्ण अधिकार हो गया है। तुम चाहो, तो स्वयं ही मुझे आत्मसमर्पण कर सकती हो। देखो ! धर्मशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों की विधि बतायी गयी है, उनमें से ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर तथा गान्धर्व – ये छह प्रकार के विवाह क्षत्रियों के लिये विहित हैं। अत: गान्धर्व विवाह करने में तुम्हें कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

शकुन्तला – "हे महाराज ! यदि शास्त्र ने मुझे आत्मसमर्पण का अधिकार दिया है, तो मेरी एक शर्त पर आपकी स्वीकृति मिलने पर मैं विवाह करने को राजी हो सकती हूँ। शर्त यह है कि आपके संयोग से यदि मेरे कोई पुत्र हो, तो आपके जीवन-काल में वही युवराज और आपके बाद राजा होगा। इस विषय में वचन पाने के बाद ही मैं आत्मसमर्पण कर सकती हूँ।"

राजा दुष्यन्त – "तथास्तु" – कहकर यह शर्त स्वीकार कर लिया और गान्धर्व रीति से शकुन्तला से माला बदलकर उसके साथ विवाह कर लिया। इसके बाद – "तुम्हें ले जाने के लिये मैं सेना आदि भेजूँगा" – ऐसा आश्वासन देकर वे अपनी राजधानी लौट गये। जाते-जाते उन्हें भय हो रहा था कि कण्व मुनि के लौटने पर जब उन्हें यह समाचार मिलेगा, तो सम्भव है कि वे नाराज होकर शाप न दे बैठें।

– २ –

इधर कण्व मुनि ने आश्रम में लौटकर शकुन्तला को देखते ही उसकी अवस्था समझ ली। शकुन्तला भी लज्जा के कारण मुख नीचा किये खड़ी रही, पहले के समान – 'पिताजी' – कहकर दौड़कर नहीं आ सकी।

महर्षि कण्व बोले, "बेटी, तुमने मेरी अनुपस्थिति में तुम किसी पुरुष के सम्पर्क में आयी हो, इसी कारण लज्जित दिख रही हो। परन्तु गान्धर्व विधि से विवाह करने के कारण तुमसे कोई अधर्म नहीं हुआ है। इस विधि से विवाह क्षत्रियों के लिये विहित है। राजा दुष्यन्त एक धर्मात्मा पुरुष हैं – उनको पति के रूप में वरण करके तुमने अच्छा ही किया है। मैं अपनी दिव्य-दृष्टि से देख रहा हूँ कि तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा, जो समय आने पर सम्पूर्ण पृथिवी का एकछत्र सम्राट् होगा। अत: तुम लज्जा त्यागकर सहज हो जाओ।"

अभय तथा आशीर्वाद पाकर शकुन्तला के मन से लज्जा तथा आशंका का भाव चला गया। उसने तत्काल उन्हें पाँव धोने के लिये जल तथा बैठने के लिये आसन दिया। उन्होंने फल की थैली को कन्धे से उतारकर भूमि पर रख दिया और आसन पर बैठ गये।

अब शकुन्तला बोली, "पिताजी, यदि आप प्रसन्न हैं, तो मुझे यह वर दीजिये कि पुरुवंश का कोई भी राजा न कभी धर्मभ्रष्ट हो और न कभी राज्य से च्युत हो।

महर्षि कण्व ने 'तथास्तु' – कहकर उस वर को स्वीकृति प्रदान किया।

– ३ –

इसके बाद यथासमय शकुन्तला को एक सुन्दर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उसकी तीन वर्ष की आयु होने पर महर्षि कण्व ने वैदिक विधान के अनुसार उसके जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न किये और उसका नाम रखा – सर्वदमन। वह दिन-पर-दिन बढ़ने लगा। वह समस्त आश्रमवासियों का अत्यन्त प्रिय था। देखते-ही-देखते वह छह वर्ष का हो गया। तब कण्व मुनि ने शकुन्तला से कहा, "वत्से ! सर्वदमन के युवराज पद पर अभिषिक्त होने का समय आ गया है, अत: तुम्हारा यहाँ रहना उचित नहीं होगा। तुम उसे उसके पिता के पास ले जाओ।"

इतना कहकर उन्होंने शकुन्तला को अपने शिष्यों के साथ राजा दुष्यन्त के पास भेज दिया। सर्वदमन को साथ लेकर पति के निवास की ओर जाते हुए शकुन्तला के मन में तरह-तरह के सुख-स्वप्न तैरने लगे – राजा दुष्यन्त से मिलने पर उन्हें कितना आनन्द होगा, पुत्र को देखकर वे कितने हर्षित होंगे, युवराज होने के बाद दुष्यन्त के पास सिंहासन पर बैठ कर सर्वदमन कितना सुन्दर दिखेगा ! आदि आदि। फिर कभी मन में आता – इतने दिनों तक क्यों उन्होंने कोई खोज-खबर नहीं ली ! अवश्य ही वे मेरे विषय में भूल गये हैं; युवराज-पद देना तो दूर की बात है, सम्भव है कि वे सर्वदमन को पास भी न फटकने दें ! वे राजा हैं, उनके ऊपर किसी तरह का बल-प्रयोग नहीं चलेगा। ऐसी दु:खमय आशंकाएँ भी मन में आकर उसे पीड़ित करने लगीं। कभी वह सबके समक्ष अपने अधिकारों को सिद्ध करने के संकल्प करती। इन कल्पनाओं के कारण कभी वह सुखी, तो कभी दुखी दीख पड़ती थी !

इसी तरह विभिन्न प्रकार से आलोड़ित चित्त के साथ वह राजसभा में उपस्थित हुई और हाथ जोड़कर राजा दुष्यन्त से बोली, "महाराज, यह आपका पुत्र है। छह वर्ष पूर्व आपने कण्व मुनि के आश्रम में मेरे साथ गान्धर्व रीति से विवाह किया था और यह प्रतिज्ञा की थी कि मेरे गर्भजात पुत्र को ही युवराज बनायेंगे। अब उस प्रतिज्ञा को पूरा करने का समय आ गया है – अपना कर्तव्य पूरा कीजिये।"

दुष्यन्त – "तपस्विनी, यह सब क्या कह रही हो? मुझे तो ऐसे कुछ भी स्मरण नहीं आता। सम्पर्क होना तो दूर की बात, मुझे नहीं लगता कि मैंने पहले कभी तुम्हें देखा हो !"

ये भयंकर बातें अनपेक्षित वज्रपात के समान शकुन्तला के कानों पर पड़ीं। वह लज्जा तथा दु:ख से स्तम्भित होकर खड़ी रही और क्षण भर के लिये कुछ सोच ही न सकी। थोड़ा-सा होश सँभलने पर भीषण क्रोध से उसकी आँखें जवा पुष्प के समान लाल हो उठीं। उसके होठ काँपने लगे। वह

बोल उठी, ''महाराज, आप जान-बूझकर निम्न कोटि के लोगों के समान व्यवहार कर रहे हैं। ऐसा क्यों कहते हैं कि आप कुछ भी नहीं जानते? मेरी बात सत्य है या मिथ्या – आपका अपना ही मन इसका साक्षी है। मन में एक बात और मुख से दूसरी – यह तो दुष्ट जनों का कार्य है। कदाचित् आप सोच रहे हैं कि आपने निर्जन एकान्त स्थान में जो कुछ किया है, उसे कोई जान नहीं सका है! यह आपकी भूल है। देवतागण तथा अन्तर्यामी परमात्मा – ये सभी आपके कार्य को जानते हैं; और मेरे पिता कण्व मुनि भी जानते हैं।''

''मैं आपके सिवा अन्य किसी भी पुरुष को नहीं जानती। आप मुझ पतिव्रता का इस प्रकार अपमान न करें। मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ। इस सभा में क्यों आप किसी सामान्य नारी के समान मेरी इस प्रकार उपेक्षा कर रहे हैं? क्या आप नहीं जानते कि शास्त्र कहते हैं – पति स्वयं ही भार्या के माध्यम से जन्म लेता है! इसीलिये पत्नी को जाया कहते हैं। भार्या अपने भर्ता की अर्धांगिनी-स्वरूप, परम मित्र और धर्म, अर्थ तथा काम – इन तीन प्राप्तियों का मूल कारण है। भार्यावान् लोग ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते हैं, भार्यावान् लोग ही गृही हो सकते हैं और भार्यावान् लोग ही सुखी तथा सम्पन्न हो सकते हैं। संकट के समान प्रिय बोलनेवाली पत्नी ही परम सहायिका है, धर्मकार्य में पिता के समान हितैषिणी है, मार्ग में थक जाने पर विश्राम तथा आश्रय स्वरूप है और भार्यावान् व्यक्ति पर ही लोग विश्वास करते हैं। पतिव्रता नारी यदि पहले परलोक में चली जाती है, तो वहाँ पति की प्रतीक्षा करती है और यदि पति की पहले मृत्यु हो जाय, तो वह उसका अनुसरण करती है। पत्नी ही इहलोक तथा परलोक की संगिनी होती है – इसीलिये लोग पाणिग्रहण करते हैं।

''पति स्वयं ही भार्या के माध्यम से पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करता है, इसीलिये मनुष्य को उसे माता के रूप में भी देखना चाहिये। पुत्र पिता का प्रतिबिम्ब ही होता है, इसी कारण लोग पुत्र का मुख देखकर इतने सुखी होते हैं।

''महाराज! प्रियतमा भार्या को देखकर लोगों की शारीरिक पीड़ा दूर होती है, मानसिक दु:ख भूल जाता है, इसीलिये क्रोध आने पर भी वह पत्नी के प्रति अप्रिय व्यवहार न करे। स्त्री आत्मा रूपी पुत्र का जन्मक्षेत्र है, इसलिये महाराज! क्यों आप अपने आत्मज पुत्र की इस प्रकार उपेक्षा कर रहे हैं? देखिये, चींटियाँ अत्यन्त क्षुद्र जीव हैं, परन्तु वे भी अपने अण्डों की रक्षा करती हैं और आप धर्मज्ञ पुरुष होकर भी अपने पुत्र का पालन करना नहीं चाहते! जातकर्म संस्कार के समय ब्राह्मण लोग जो मंत्र बोलते हैं, क्या आप उन्हें नहीं जानते? – 'हे बालक, तुम मेरे अंग-अंग से जन्मे हो, तुम मेरे हृदय से जन्मे हो, पुत्र कहलाने वाले तुम मेरी आत्मा ही हो, तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो। मेरा जीवन और मेरा अक्षय वंश तुम्हारे ही अधीन है, अत: तुम सुखपूर्वक सौ वर्षों तक जीवित रहो।' हे राजन्! यह बालक आपके अंगों से पैदा हुआ है। अपने पुत्र का मुख देखकर सुखबोध कीजिये।

''महाराज! याद कीजिये – आज से छह वर्ष पूर्व आप शिकार खेलने के लिये वन में गये थे। तभी आपने कण्व मुनि के आश्रम में मेरे साथ विवाह किया था। अब मुझे और दु:ख मत दीजिये। हाय! पिछले किसी जन्म में मैंने न जाने कौन-सा महापाप किया था, जिसके कारण मेरी माँ मेनका मुझे त्यागकर चली गयी थीं, फिर पिता विश्वामित्र के मुख का तो मैं दर्शन भी नहीं कर सकी और अब मेरे पति ने भी मेरा परित्याग कर दिया है!''

इसके बाद वह बोली, ''अस्तु। मेरे भाग्य में जो होना है, सो हो। मुझे आप स्वीकार न करें, तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु अपने इस पुत्र का त्याग करना आपके लिये नितान्त अन्यायपूर्ण कार्य होगा।''

दुष्यन्त – ''तपस्विनी! मुझे तो याद नहीं आता कि मैंने कभी तुम्हें पत्नी-रूप में ग्रहण किया हो, तो फिर यह पुत्र किस प्रकार मेरा हो सकता है! स्त्रियाँ प्राय: झूठ बोला करती हैं। और तुम जो झूठ नहीं बोल रही हो, इसका क्या प्रमाण है? कुलटा मेनका तुम्हारी माता है और निर्दय विश्वामित्र तुम्हारे पिता हैं, अत: तुम भी विश्वसनीय नहीं हो। मैं तुम्हें नहीं जानता। तुम यहाँ से जहाँ इच्छा हो, चली जाओ।

शकुन्तला – ''महाराज! जो व्यक्ति अपने पुत्र को देखकर भी नहीं पहचानता, वह अपनी समृद्धि से पतित हो जाता है और उसे उत्तम लोकों की प्राप्ति भी नहीं होती। भगवान मनु ने कहा है, 'मनुष्य के पुत्र इहलोक में उसका धर्म, कीर्ति तथा प्रसन्नता बढ़ाते हैं और मृत्यु होने पर नरक से परित्राण करते हैं। अत: हे राजन्, आप अपने इस पुत्र का त्याग न करें। कपट को त्यागकर आप सत्य तथा धर्म का पालन करें। महाराज! हजार अश्वमेधों से एक सत्य श्रेष्ठ है। सत्य के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है, सत्य से उत्तम दूसरा कुछ भी नहीं है और झूठ से बढ़कर अन्य कोई पाप भी नहीं है। सत्य ही ब्रह्म है; सत्य का पालन ही सर्वोत्तम धर्म है; अत: आपके लिये सत्य का त्याग कदापि उचित नहीं। और यदि आप झूठ का ही आश्रय लेकर मुझे निकाल देंगे, तो मैं चली जाती हूँ; परन्तु यह जान रखिये कि समय आने पर मेरा यह पुत्र ही चारों ओर से समुद्रों से घिरी इस पृथ्वी का सम्राट् होगा।

तब राजसभा में उपस्थित ऋषिगण तथा मंत्री लोग बोले, ''महाराज! इसमें कोई सन्देह नहीं कि शकुन्तला से उत्पन्न यह बालक आपका ही पुत्र है। इसकी मुखाकृति देखकर ही यह बात समझ में आ जाती है। आप अपने पुत्र को अपना कर उसका लालन-पालन कीजिये।''

(शेष पृष्ठ ९२ पर)

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२६)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे । वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे । वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे । बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था । 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

द्वितीय परिच्छेद

स्वामी विवेकानन्द की खोज में स्वामी अखण्डानन्द

स्वामी अखण्डानन्द – (ब्रह्मचारियों से) "श्रीठाकुर के तिरोभाव के बाद स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक अवस्था में एकाकी देशाटन के लिए निकले । उस समय मैं किस प्रकार उनके पीछे-पीछे धावा करता था, उसकी कहानी बताता हूँ, सुनो – मुझे किन्हीं सूत्रों से पता चला कि स्वामीजी जयपुर, अलवर, अजमेर आदि स्थानों को जायेंगे । उनके प्रति मेरा बड़ा प्रेम था । इसीलिए उनका संग करने के लिए मैं जयपुर गया । वहाँ मैं एक दादूपन्थी के अखाड़े में ठहरा । उस अखाड़े के पास ही बहुत बड़े फाटकवाला एक लाल मकान था । भगवान की ऐसी महिमा है कि उसी समय सहसा मेरे मन में आया कि सम्भवतः इसी बड़े मकान में मुझे स्वामीजी का पता मिलेगा । सोचा कि श्री गोपीनाथजी के विग्रह का दर्शन करके लौटते समय वहाँ पूछताछ करूँगा । यही सोचकर मैं गोपीनाथ का दर्शन करने गया । दर्शन के उपरान्त वहाँ पूछने जाकर देखा कि वहाँ दुमंजले पर एक सज्जन हाथ में सोने का कंगन पहने बैठे हैं । मेरे ऊपर चढ़कर सामने पहुँचते ही उन्होंने खड़े होकर मुझे नमस्कार किया । मैंने पूछा कि यहाँ कोई बंगाली संन्यासी हैं क्या?"

सज्जन – हाँ, एक बंगाली संन्यासी यहाँ थे । मैं उनका पता बता सकता हूँ । आप उनके कौन हैं?

अखण्डानन्द – गुरुभाई ।

"गुरुभाई बोलते ही उन्होंने मेरा खूब सत्कार किया और साथ लेकर उसी लाल रंग के मकान में गये – जहाँ मैंने अनुमान किया था । उनके कुछ दिन वहीं रहने का अनुरोध करने पर मैं ठहर गया । मेरे पास कुरता नहीं था, उन्होंने बनवा दिया । उनका नाम था चतुर सिंह, वे खेतड़ी-नरेश के सम्बन्धी थे । उनके बड़े भाई सम्भवतः अब उसी राज्य की कौंसिल के सदस्य हो गये हैं । वहाँ कुछ ठहरने के बाद उन्होंने पता बताते हुए कहा कि स्वामीजी खेतड़ी के राजा को शिष्य बनाने के बाद अजमेर गये हैं ।

"मैं जयपुर में गोविन्दजी का दर्शन करने के बाद अजमेर गया । वहाँ पहुँचकर सुनने में आया कि स्वामीजी अहमदाबाद चले गये हैं । तब मैं पुष्कर की ओर रवाना हुआ । पुष्कर में सारदा (स्वामी त्रिगुणातीत) के साथ भेंट हुई । उसके साथ मैं अजमेर लौट आया । अजमेर में सारदा के बीमार हो जाने से मैं उसकी सेवा करने लगा । इस प्रकार एक पखवारे से भी अधिक काल तक वहाँ रहना पड़ा ।

"स्वस्थ हो जाने के बाद सारदा ने खण्डवा जाने की इच्छा व्यक्त की । परन्तु हम दोनों ही खाली हाथ थे । मैं अपने लिए चिन्तित नहीं था, परन्तु सारदा अस्वस्थ होने के कारण पैदल जाने में अक्षम था । चतुर सिंह के बहनोई मौरसिंह द्वारा खण्डवा जाने के लिए टिकट का खर्च देने पर मैंने सारदा को खण्डवा भेज दिया । सारदा के चले जाने के बाद मैं सोचने लगा कि पैदल जाने से अब स्वामीजी को पकड़ा नहीं जा सकेगा । परन्तु मैं अकिंचन था, अतः ट्रेन से कैसे जाता? भाग्यवश एक भक्त ने वेरावल के लिए टिकट खरीद दिया ।

"वेरावल जाकर सुनने में आया कि स्वामीजी वहाँ आये थे, परन्तु अब नहीं हैं । मैंने वहाँ से आबू पर्वत की यात्रा की । वहाँ के द्रष्टव्य स्थानों को देखने के बाद मैं अहमदाबाद आया । अहमदाबाद में पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि स्वामीजी वहाँ नहीं हैं, वे वधवान चले गये हैं । वहाँ से मैंने बड़ौदा तथा भड़ौच होकर नर्मदा-संगम में स्नान किया ।

"नर्मदा-संगम से बड़ौदा लौटकर मैंने एक सद्गोप के घर में रात बितायी । अगले दिन वहाँ के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण कहने लगे – आप दण्डी संन्यासी होकर भी शूद्र के घर में क्यों ठहरे हैं? उन लोगों ने मुझे एक ब्राह्मण के घर ले जाकर खूब आदर के साथ रखा । पर वह मकान इतना गन्दा था कि रहना बड़ा कष्टकर था । उस घर में न ठहरकर मैं बड़ौदा राज्य के एक उच्च बंगाली अधिकारी के घर ठहरा । उन्होंने विशेष आदर-यत्न के साथ मुझे अपने घर में रखा । मैं संन्यासी हूँ और संन्यासी का कोई जातिभेद नहीं होता – सुनकर उन्होंने अपने ही घर में मेरे भोजन का प्रबन्ध किया । उनका रसोइया गोवा का ईसाई था । रसोइये की पोशाक तथा आचार देखकर मेरी वहाँ भोजन करने की प्रवृत्ति नहीं हुई । वे बोले – आपमें अब भी जातिभेद है । मैंने कहा – जी हाँ, यदि ऐसा ही हो, तो है ।

"बड़ौदा में कुछ दिन निवास करके मैं फिर स्वामीजी की खोज में निकला । वधवान जंक्सन पर उतरकर मेरी एक सज्जन के साथ भेंट हुई । उन्होंने बताया – विवेकानन्द नाम के एक महान् विद्वान् साधु जूनागढ़ में हैं । तब मैं जूनागढ़ की

ओर रवाना हुआ। वहाँ जाकर ज्ञात हुआ कि स्वामीजी पोरबन्दर होकर द्वारका की ओर गये हैं। जूनागढ़ के द्रष्टव्य स्थानों को देखकर मैं प्रभास तीर्थ गया। प्रभास-दर्शन के उपरान्त मैं स्टीमर में द्वारका गया। हे भगवान, द्वारका पहुँचकर सुनने में आया कि स्वामीजी बेटद्वारका गये हैं। एक रात द्वारका में निवास करने के बाद अगले दिन मैं बेटद्वारका गया। वहाँ सूचना मिली कच्छभुज के राजा ने उन्हें कच्छभुज आने का निमंत्रण दिया था और स्वामीजी कच्छ-माण्डवी गये हैं। मैंने भी उसी ओर प्रस्थान किया।

तृतीय परिच्छेद

डकैतों के हाथ में स्वामी अखण्डानन्द

''उनके साथ मिलने का मेरा आग्रह इतना बढ़ चुका था कि मैं उन सब स्थानों में कुछ देखे बिना ही माण्डवी को ओर चल पड़ा। आश्चर्य ! वहाँ जाकर सुना कि वे नारायण-सरोवर की ओर गये हैं। वहाँ रात बिताने के बाद मैं नारायण-सरोवर की ओर जा रहा था कि मार्ग में डकैतों के हाथ में पड़ गया।

''सहसा तीन-चार डकैतों ने आकर मुझे पीछे से इतने जोर से धक्का मारा कि मैं मुँह के बल धरती पर जा गिरा। उनके हाथ में पतली लाठियाँ थीं। उन लोगों ने दो-चार लाठियाँ भी मारी। मैं उन्हीं लोगों की भाषा में कहने लगा – मेड़े गनो, मेड़े गनो, मुके मार जो मु – अर्थात् मेरे पास जो कुछ भी है, सब तुम लोगों को दे रहा हूँ, मुझे मारो मत। इसी प्रकार चिल्लाकर मैं उनकी भाषा में बोल रहा था, तभी एक मुस्टण्डे डकैत ने मुझे चित्त कर दिया। चित्त होते ही मैंने देखा कि उनमें से एक हाथ में नंगी धारदार तलवार लिए उसे लपलपाते हुए घुमा रहा है। देखते ही मेरे प्राण सूख गये। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका था कि उनके हाथ में तलवार है, यही समझा था कि लाठी भर है। खैर, मैं तो पूरे मन से ठाकुर का स्मरण और बीच बीच में डकैतों से कहने लगा – मुझे मारो मत, मेरे पास जो कुछ भी है, तुम लोग सब ले लो। उस समय मेरे पास रूई का एक कुर्ता, अलखल्ला और एक थैली में गीता, देवी-माहात्म्य आदि कुछ पुस्तकें और व्याघ्रचर्म का एक आसन था। जो कुछ भी था, शरीर से उतारकर उस भीषण आकृतिवाले डकैत के सामने फेंकते ही, दो-तीन डकैत उस कुर्ते की जेबों में हाथ डालकर और थैली को झाड़ कर रुपये-पैसे ढूँढ़ने लगे, परन्तु उन्हें कुछ भी नहीं मिला।

''रास्ते में मुझे एक भक्त मिल गया था – मानो सींकिया पहलवान – मेरे पीछे-पीछे ही चला आ रहा था। मेरी ऐसी अवस्था और डकैतों के हाथ में नंगी तलवार देखकर वह क्षीणकाय अनुचर आधा हाथ जीभ निकालकर रास्ते में पड़ गया। उसके कन्धे पर एक फटी-पुरानी झोली थी, जिसमें कुछ बर्तन आदि तथा कुछ पैसे-वैसे थे। उस बेचारे की ऐसी हालत देखकर, मात्र एक रुपये के लिए भी पथिकों की हत्या करने को तैयार यमदूत के सरीखे उन डकैतों से मैंने कहा – देखो भाई, मैं पैसे-वैसे लेता नहीं और रखता भी नहीं। मेरे कपड़े आदि जो कुछ भी हैं, वह सब तुम लोग ले जाओ; तुम्हारे काम आयेगा, जाड़े में पहनना। परन्तु उस आदमी का कुछ मत लेना, वह बड़ा ही गरीब है। तब वह सींकिया पहलवान काँपते हुए कहने लगा – हुजूर, वह तो फकीर है, उसे कोई अभाव नहीं होगा, दुबारा मिल जायगा, परन्तु मैं बड़ा गरीब हूँ, मुझसे कुछ मत लेना, मेरे पास कुछ नहीं है। (महापुरुष महाराज के प्रति) देखिए, उस समय भी उसके मन में पैसों के लिए कितनी आसक्ति थी !

''खैर, उसकी फटी-पुरानी झोली देखकर डकैतों ने उधर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। केवल मेरे कुर्ते की अच्छी तरह तलाशी लेने लगे, पर कुछ मिला नहीं। डकैतों में से एक ने मुझसे कहा – अपने दोनों हाथ पीछे करो। हाथों को पीछे मोड़कर बाँध देना ही उसका उद्देश्य था। पर मैं राजी नहीं हुआ। मैं एक के शरीर पर हाथ रखकर बोला – पीछे पीठ की ओर इस प्रकार मेरे हाथ बाँधकर क्या होगा ! मेरे पास जो कुछ भी है, सब तुम लोग ले जाओ। शरीर पर हाथ लगाते ही उसने इतने जोर से मेरे हाथ हो झटकारा कि मेरे कन्धे का जोड़ तक हिल गया था। जब इस तरह बातचीत चल रही थी, तब तक वे लोग अपनी तलवारें म्यान में वापस रख चुके थे।

''उन डकैतों का सरदार एक ओर बैठा था। उसके शरीर पर एक काला कोट, सिर पर लाल पगड़ी और हाथ में लाठी थी। मेरे पास से कुछ भी नहीं मिला देखकर, वह सरदार उठकर मेरे पाँवों में सिर झुकाकर चरणधूलि लेते हुए बोला – कुर्ता आदि हम लोग नहीं लेंगे, आप इसे पहन लीजिए। जाते समय एक डकैत मुझे धमकी दे गया – खबरदार, यह बात किसी को मत बताना, नहीं तो मारे जाओगे। इतना कहकर वे लोग तीर के वेग से चले गये। मैंने भी चैन की साँस ली।

''नारायण-सरोवर के मार्ग में इस प्रकार डकैतों के हाथ से छुटकारा पाकर मैं पुन: स्वामीजी की खोज में आगे बढ़ा। साथ में वह भक्त भी था। नारायण-सरोवर पहुँचकर वहाँ के महन्त महाराज के मुख से सुना कि स्वामीजी पिछले दिन वहाँ से आशापुरी चले गये हैं। आशापुरी एक देवी का स्थान है। डाकुओं के आक्रमण तथा स्वामीजी से न मिल पाने की निराशा से वहाँ बुखार आ जाने के कारण मैंने वहाँ स्नान नहीं किया। सिर तथा मुख में जल से आचमन करके मैं आशापुरी की ओर जाने को तैयार हुआ।

''नारायण-सरोवर देखने में कोई सुन्दर हो, ऐसी बात नहीं। वहाँ विष्णु की मूर्ति ही प्रधान है और अन्य मूर्तियाँ भी हैं। वहाँ मेरी विपत्ति की बात सुनकर महन्त महाराज ने कहा – महाराज, आप अकेले क्यों आये? आपके स्वामीजी तो

घोड़ा और सवार आदि साथ लेकर आये थे ! मैं स्वामीजी के पीछे आशापुरी जाऊँगा, यह सुनकर उन्होंने घोड़ा और सिपाही मेरे साथ कर दिया।

''वहाँ से रात में हमने आशापुरी के लिए प्रस्थान किया – वहाँ रात में चलने की प्रथा है। चाँदनी रात में हम लोग चले जा रहे थे, मार्ग में एक विशाल मैदान में मेरा संगी सिपाही ठिठककर खड़ा हो गया और इधर-उधर देखने लगा। बात क्या है, यह पूछने पर उसने बताया – कोई खराब आदमी छिपता है। यह सुनते ही मेरे प्राण सूख गये। चिन्ता हुई कि जिनके लिए इतनी दौड़धूप हुई, उन प्राणों से भी प्रिय स्वामीजी से भेंट अब और नहीं हो सकेगी, शायद इस मैदान में ही डकैतों के हाथ प्राण गँवाने पड़ेंगे। मन-ही-मन व्याकुल होकर मैं ठाकुर का नाम जपने लगा।

''पथप्रदर्शक तथा रक्षक सिपाही मुझे आश्वासन देते हुए बोला, 'महाराज, आप साधु हैं, आपको स्पष्ट बताता हूँ। हम लोग अत्यल्प वेतन और एक मुट्ठी चना पाते हैं। इससे हमारी गृहस्थी नहीं चलती। इसलिए ये जो डकैत आदि देख रहे हैं, ये सभी राजा के नौकर हैं; मैं भी डकैतों में से एक हूँ। हमारे बीच ऐसा नियम है कि हम लोगों में से यदि कोई किसी को साथ ले जाये, तो कोई उसका कुछ नहीं करेगा।'

''इसी प्रकार हम दोनों बातें करते हुए चले जा रहे थे। भोर के समय एक गाँव की धर्मशाला में पहुँचकर हम लोगों ने कुछ भोजन किया। भोजन के उपरान्त उस सिपाही ने कहा – स्वामीजी, आप साधु आदमी साथ में हैं, इसीलिए मेरे घोड़े को कुछ खाने को नहीं मिला। नहीं तो, चारों ओर बाड़ लगाया हुआ जो घास देख रहे हैं, उसी से चुराकर मैं घोड़े को खिलाता और कुछ अन्य रोजगार भी करता। आप साधु हैं, आपके साथ आकर वह सब कार्य नहीं करूँगा, परन्तु लौटते समय लूटते हुए आऊँगा।

''कच्छी लोग बड़े साधु-भक्त होते हैं। किसी ग्राम में कोई साधु-संन्यासी आने से, गृहस्थ लोग मार्ग से ही खींचातानी करने लगते हैं, एक कहता है मेरे घर चलिए, तो दूसरा कहता है मेरे घर। घर ले जाकर वे बड़े आदर-यत्न से खिलाते हैं।

''सिपाही के साथ कभी ऊँट और कभी घोड़े पर चढ़कर हम लोग आशापुरी पहुँचे। यह सोचकर मन आनन्द से नृत्य कर रहा था कि यहाँ अवश्य ही स्वामीजी का दर्शन मिलेगा। जयपुर से पीछा करते-करते कितनी ही विपत्तियों तथा शारीरिक कष्टों की परवाह न करते हुए बहुत दूर से आया हूँ और यहाँ पर स्वामीजी का दर्शन पाऊँगा। मन में खूब आनन्द था। परन्तु ओ माँ, वहाँ पूछने पर पता चला कि वे माण्डवी चले गये हैं। इस पर पहले तो मैं इतना हताश हो गया था, जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। पर मैं भी नाछोड़-बन्दा था। वहाँ से मैं फिर माण्डवी की ओर चला।

''माण्डवी पहुँचकर गोकुल के गोसाईं की शिष्या केशर बाई के घर मैंने स्वामीजी को जा पकड़ा। जयपुर से लेकर अजमेर, अहमदाबाद, वेरावल, वाधवान, जूनागढ़, पोरबन्दर, द्वारका, बेटद्वारका, कच्छमाण्डवी, नारायण-सरोवर, आशापुरी आदि स्थानों में पीछे दौड़ते हुए डेढ़ वर्ष बाद इस समुद्र के किनारे कच्छ प्रदेश में स्वामीजी को देखकर मुझे जो अपार आनन्द होने लगा, उसे भाषा में कैसे व्यक्त करूँ! वे भी सहसा मुझे वहाँ देखकर विस्मित तथा परम आनन्दित होकर बोले, 'क्यों रे, गंगा, तू यहाँ कैसे आ पहुँचा?' मैं जिस प्रकार जयपुर से उनके पीछे दौड़ते हुए वहाँ आ पहुँचा था, उन्हें सारी बातें बतायी। डकैत द्वारा पकड़े जाने की बात सुन कर वे बोले – कहीं ऐसे भी दु:साहस का कार्य किया जाता है? तूने न्यायाधीश से घोड़ा और सिपाही क्यों नहीं ले लिया?

''बाद में वे मुझसे बोले, 'केशर बाई के पास कृष्णकथा का अकेला उपभोग नहीं कर पा रहा था। सोच रहा था कि तारक दा या बाबूराम में से कोई यदि रहता, तो खूब मजा आता। खैर, तू आ गया है – छोटा है – इनकी कृष्णकथा का आनन्द ले। इतना कहकर वे उनकी कथा सुनाने लगे। हँसते-हँसते मेरे पेट में बल पड़ गये। इन लोगों का प्रधान स्थान अजमेर आदि होगा। ... केशर बाई खूब दानशील थीं।

''स्वामीजी की एकाकी रहने की प्रबल इच्छा थी। मैंने उनकी इच्छा में बाधा नहीं दिया। वे अगले दिन ही भुज चले गये। मैं भी दो-तीन दिन बाद उस ओर रवाना हुआ। वहाँ राजा के दीवान के घर ठहरा। एक दिन स्वामीजी वहाँ के रेजिडेंट साहब से मिलने आये। उन्होंने स्वामीजी को अपना गुप्त मनोभाव बताते हुए कहा – मैं वहाँ रेल बिछाना चाहता हूँ। पर स्वामीजी द्वारा उसका समर्थन न करने पर साहब का मुख बड़ा गम्भीर हो गया। भुज में दो दिन रहकर हम दोनों ने कुछ दिन माण्डवी में निवास किया। इसके बाद वे पोरबन्दर गये। पाँच-सात दिन बाद मैं भी पोरबन्दर गया। वहाँ फिर हम दोनों की भेंट हुई। पोरबन्दर से हम दोनों अलग हो गये। उन्होंने जूनागढ़ और मैंने काठियावाड़ की ओर प्रस्थान किया।

बाबूराम महाराज – ''स्वामीजी उधर ही कहीं घूम रहे थे। उन्हीं दिनों एक सज्जन के घर अतिथि होने पर गृहस्वामी ने उन्हें बड़े आदर-यत्न से रखा। स्वामीजी दो-एक दिन उनके घर रहे। गृहस्वामी की एक विधवा पुत्रवधू थी। देखने में बड़ी सुन्दरी थी। बीच-बीच में स्वामीजी की ओर निहारती रहती। यही देखकर, गृहस्वामी के आदर-सत्कार तथा हार्दिक अनुरोध के बावजूद वे वहाँ से शीघ्र चलते बने।'' ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ की कृपा-कणिका

प्रमोद कुमार सेन

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

हम लोग पाँच भाई और चार बहन थे। मैं सबसे बड़ा था। शचीन मेरे बाद का भाई था, जो मुझसे एक साल छोटा था। मेरा जन्म १८९२ और शचीन का १८९३ ई. में हुआ था। १४ वर्ष की आयु में वह अरविन्द घोष के क्रान्तिकारी संगठन में शामिल हो गया। वह मानिकतला बम के अभियुक्त के रूप में जेल गया। (१९०९ ई. में) वह जेल से छूटकर सीधा माँ के पास उद्बोधन गया एवं मठ में सम्मिलित होने की इच्छा व्यक्त की। उसके साथ मानिकतला बम मामले के दूसरे विख्यात अभियुक्त देवव्रत बोस भी थे। शचीन उस समय १६ वर्ष का था। उनके स्वदेशी-आन्दोलन से जुड़े होने और मानिकतला बम के अभियुक्त के रूप में जेल जाने की बात माँ ने सुनी। उन दिनों स्वदेशी-आन्दोलन से जुड़े और विशेषकर जेल से लौटे बम के अभियुक्तों को मठ में आश्रय देना संकट-भरा कार्य था। परन्तु सब जानने के बाद भी माँ ने दोनों को स्नेहपूर्वक आश्रय और दीक्षा भी प्रदान किया। उसी समय वे दोनों मठ में सम्मिलित हो गये। संघ में प्रविष्ट होने के दो वर्ष बाद (१९११ ई.) स्वामी ब्रह्मानन्द ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। शचीन का नाम हुआ स्वामी चिन्मयानन्द और देवव्रत बसु का नाम हुआ स्वामी प्रज्ञानन्द। विख्यात विप्लवी माखनलाल सेन मेरे सगे चाचा – मेरे पिता (देवेन्द्रनाथ) के अपने भाई थे। वे भी माँ के मंत्र-शिष्य थे। इंट्रेंस पास कर जब मैं उत्तरपाड़ा के प्यारी मोहन कॉलेज में पढ़ रहा था, तभी शचीन ने मुझे माँ के पास बुलाया। उसने कहा, "तू भी यहीं चला आ। बड़ी शान्तिपूर्ण जगह है। कुछ दिन बाद (१९१० ई. में) माँ के पास जाने पर माँ ने मुझे भी सस्नेह स्वीकार किया और कुछ दिन बाद (१९११ ई. में) मुझे दीक्षा प्रदान किया। दीक्षा के बाद माँ के घर पर मैं ब्रह्मचारी के रूप में रह गया। उस समय माँ ने दया करके मुझे अपना सेवाधिकार भी दिया था।

१९१२ ई. में स्वामी ब्रह्मानन्द जी कई साधु और भक्तों को लेकर काशी गये। साथ में मुझे भी ले गये। उस समय माँ भी काशी में ही थीं। १९१५ ई. में स्वामी ब्रह्मानन्द ने मुझे ब्रह्मचर्य दीक्षा दी। मेरा नाम हुआ ब्रह्मचारी प्रसाद चैतन्य। शचीन उन दिनों अल्मोड़ा में था।

१९१६ ई. में मुझे काशी से उद्बोधन कार्यालय भेजा गया। उस समय विश्वयुद्ध चल रहा था। माँ उद्बोधन में ही थीं। पुन: मुझे माँ की सेवा का सुयोग मिला। कई महीने बाद माँ जयरामबाटी चली गयीं। उस समय एक बार स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने मुझे जयरामबाटी भेजा था। उन्होंने और शरत् महाराज ने मेरे हाथ माँ के लिये कई चीजें भेजी थीं। जब मैं जयरामबाटी पहुँचा, तो मुझे क्लान्त और पसीने से भींगा देखकर माँ स्वयं पंखा लेकर मुझे हवा करने लगीं। मैं जितने दिन जयरामबाटी में रहा, माँ स्वयं अपने हाथों से परोस कर खिलातीं। एक दिन मैं बरामदे में माँ के पास बैठा था, बातचीत के दौरान युद्ध की बात उठी, माँ ने कहा, "ठाकुर आये थे न ! अवतार के आने पर ऐसा ही होता है। रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, चैतन्य, मुहम्मद – सब के समय कितना युद्ध हुआ था।"

कुछ दिन बाद मैं कलकत्ते लौट गया। जयरामबाटी में मैंने माँ को उद्बोधन से भी और अधिक अपना पाया था। देखता – जयरामबाटी में माँ बहुत अधिक स्वच्छन्द व उन्मुक्त भाव से रहती हैं। जयरामबाटी में मुझे माँ का जो स्नेह मिला, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता। वैसे तो मैं उद्बोधन में भी माँ का स्नेह पाकर धन्य हुआ हूँ, पर जयरामबाटी में माँ मानो बिल्कुल घर के माँ जैसी थीं। उद्बोधन में माँ सदैव अपना मुख घूँघट से ढँके रहती, पर जयरामबाटी में ऐसा नहीं था। जयरामबाटी माँ का मायका था, वे वहीं की बेटी थीं, इसलिये वे जयरामबाटी में इतने स्वच्छन्द भाव से रहतीं। इसका लाभ भक्तों को मिला करता था।

कुछ दिन बाद १९१९ ई. के प्रारम्भ में शचीन गम्भीर बीमारी की अवस्था में अल्मोड़ा से उद्बोधन आया। उसे क्षय रोग (टी.बी.) हो गया था। कारागार में हुए अत्याचार के कारण ही उसे यह रोग हुआ था। शचीन की सेवा का भार माँ ने मुझे सौंपा। दो अन्य ब्रह्मचारी मेरी सहायता करते। यथासाध्य चिकित्सा के बावजूद उसे बचाया नहीं जा सका। कुछ महीनों बाद १९ जुलाई को वह स्वधाम चला गया। अन्तिम शय्या पर शचीन केवल 'माँ-माँ' कहकर पुकारता और रोता। तब माँ

ने हमारी जन्मदात्री माँ को बुलवा भेजा। वे आकर शचीन के सिरहाने बैठ गयीं और व्याकुल होकर रोने लगीं। शचीन ने उन्हें देखा, पर उसकी रुलाई नहीं थमी। वह 'माँ-माँ' कहकर रोता रहा। खबर पाकर श्रीमाँ शचीन के सिरहाने आकर खड़ी हो गयीं और स्नेहपूर्वक उसके सिर पर हाथ रखकर उसके पास बैठीं। माँ को देखकर शचीन की रुलाई थमी। उठकर श्रीमाँ के चरण-स्पर्श करते ही उसका चेहरा एक अपूर्व आनन्द से खिल उठा। उसी आनन्दोद्भासित भाव के साथ वह केवल 'माँ-माँ' कहकर पुकारता रहा! थोड़ी देर में 'माँ-माँ' कहते हुए ही वह होश में रहते ही दिव्यधाम को चला गया।

उस समय मेरी जन्मदात्री माँ फूट-फूटकर रो रही थीं। श्रीमाँ ने उन्हें सीने से लगाकर रोते हुए कहा, "तुम रोओ मत। वह फूल के समान पवित्र था, कोई शापभ्रष्ट योगी था। उसके समान पुत्र को तुमने गर्भ में धारण किया, तुम महा-भाग्यवती हो। शचीन महा भाग्यवान है। मैंने देखा – ठाकुर स्वयं आकर उसे ले गये।"

शचीन का शरीर जब शमशान ले जाया जा रहा था, तब श्रीमाँ दुमंजिले पर जोरों से रो पड़ी थीं। शचीन की मृत्यु से माँ को बड़ा कष्ट हुआ था। कुछ महीनों पूर्व (२० अप्रैल १९१९ को) देवव्रत महाराज ने भी उद्बोधन में ही देहत्याग किया था। देवव्रत महाराज की मृत्यु से भी माँ को बड़ा दुःख हुआ था।

१९१९ ई. में स्वामी ब्रह्मानन्दजी मुझे भुवनेश्वर ले गए। जिस समय माँ का महाप्रयाण हुआ उस समय मैं भुवनेश्वर में था। महाराज भी तब वहीं थे। इस कारण मैं माँ का पुनः दर्शन नहीं कर सका। शचीन की अकाल मृत्यु के बाद माँ के लीला-संवरण की मर्मान्तिक घटना से मेरा हृदय टूट गया। सुना था कि अन्य साधु-ब्रह्मचारियों के साथ ही मेरे चाचा माखनलाल सेन को भी श्रीमाँ के भागवती तनु को कन्धों पर रखकर बागबाजार से वराहनगर तक ले जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वराहनगर से नौका द्वारा गंगा पार करके माँ की देह को बेलूड़ मठ ले जाते समय भी उन्होंने माँ का देह वहन किया था। बेलूड़ मठ में माँ की देह को चिताग्नि समर्पण करते समय भी वे उपस्थित थे।

१९२२ ई. के जनवरी में मैं महाराज के साथ बेलूड़ मठ लौटा। इसके कुछ ही दिन बाद मैं चेचक से आक्रान्त हुआ। खबर पाकर मेरी जन्मदात्री माँ बेलूड़ मठ में आकर महाराज के पास रोने लगीं। वे महाराज से बोलीं, "मैं एक पुत्र खो चुकी हूँ, अब दूसरा भी चला जायेगा।" महाराज से अनुमति लेकर वे मुझे स्वास्थ्य लाभ कराने के लिए घर ले आयीं। उस समय (जनवरी १९२२ ई.) मेरी आयु ३० वर्ष की थी। भाग्यचक्र में पड़कर मेरा पुनः मठ लौटना नहीं हुआ। लेकिन मैं मठ को नहीं भूला, श्रीमाँ को भी नहीं भूल सका। मेरे सम्पूर्ण जीवन में केवल वे ही लोग हैं। जानता हूँ जब जीवन समाप्त होगा, तब करुणामयी माँ आकर अपनी गोद में उठा लेंगी। ❑

पृष्ठ ६३ का शेषांश

आने पर जब उन्हें सूचना मिली कि लंका के रणांगण में लक्ष्मण के प्राण संकट में हैं, वे मृत्युशय्या पर पड़े हैं, तो उन्हें बड़ा रोष होना चाहिए था कि मैंने अपना बेटा साथ में दिया और राम ने उसे युद्ध में झोंक दिया। मेरा बेटा मर गया। राम बड़े कठोर हैं। पर यह समाचार सुनकर सुमित्रा अम्बा ने कहा –

बोली धन्य सुवन मम आजू।
जुझेउ समर स्वामि के काजू।।
एक दुख मम दीन्ह विधाता।
कुसमय भयउ राम बिनु भ्राता।।

उन्होंने शत्रुघ्न की ओर देखा – तुम भी इसी दिशा में जाओ। उनमें यह वृत्ति क्यों आई? सुमित्राजी भावनात्मक हैं। वे शरीर को केन्द्र मानकर विचार नहीं करतीं। लक्ष्मणजी भी जब उनसे आज्ञा लेने आते हैं और कहते हैं कि मैं प्रभु के साथ वन जाना चाहता हूँ, उन्होंने माँ से विदा माँगकर आने को कहा है, तो सुमित्रा अम्बा कहती हैं – लक्ष्मण, तुम आज्ञा माँगने मेरे पास चले आए? वैदेही के बेटे होकर तुमने देह को माता मान लिया –

तात तुम्हारि मातु बैदेही।। २/७४/२

उनकी दृष्टि में राम व्यक्ति नहीं ईश्वर हैं। सुमित्रा अम्बा सच्चे प्रेमभाव से सोचती हैं – राम ईश्वर हैं, मेरे बेटे से सेवा ले लें। यदि उनकी सेवा में मेरे बेटे के प्राण चल जायें, तो यह उनकी कृपा-ही-कृपा है – यह दृढ़ भावना सुमित्रा अम्बा के प्रेम को परिवर्तित नहीं होने देती। पर जहाँ पर यह भेदबुद्धि है, वहाँ व्यक्ति को बदलते देर नहीं लगती। और यही रामराज्य की बाधा है। व्यवहार में 'मैं' और 'तू' का भाव रामराज्य नहीं बनने देता। यही मन्थरा का पक्ष है। पर इस जीव और ब्रह्म के द्वैत का क्या करें? जीव ब्रह्म से एक है या अलग? व्यवहार करें, तो भेद करें या न करें? अभेद में स्थित होकर व्यवहार होगा या नहीं? यह जो दूसरा पक्ष है, आगे हम इसी पर चर्चा करेंगे। **❖ (क्रमशः) ❖**

अखण्डानन्दजी की तीर्थ-यात्राएँ

स्वामी विदेहात्मानन्द

तपस्या की आवश्यकता

श्रीरामकृष्ण के कुछ गृही भक्तों तथा शिष्यों का मत था कि जिन लोगों ने उनका सशरीर दर्शन कर लिया है, उनका उद्धार हो चुका है, यही सबसे बड़ी आध्यात्मिक सिद्धि है और उसके बाद कोई साधना आदि करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु उनके युवा त्यागी शिष्यों का विश्वास था कि गुरु तथा ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप कुछ आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त हो जाने पर भी साधक को निर्जन में साधना के द्वारा उन्हें आत्मसात् करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण की एक उपमा बड़ी प्रासंगिक है। उन्होंने कहा था कि अधिकांश पौधों पर पहले फूल आते हैं और फिर फल, परन्तु लौकी-कुम्हड़े आदि कुछ की लताओं पर पहले फल आते हैं और उसके बाद फूल – अर्थात् अधिकांश साधकों को साधना-तपस्या के बाद ही लक्ष्य-सिद्धि होती है, परन्तु कुछ के जीवन में पहले सिद्धि मिल जाती है और उसके बाद उन्हें साधना करके उसे अपना स्थायी भाव बनाना पड़ता है।

इसी कारण श्रीरामकृष्ण के इहलीला-संवरण के उपरान्त उनके अधिकांश त्यागी शिष्यगण विभिन्न स्थानों पर जाकर तपस्या में निरत हो गये। सुप्रसिद्ध धर्माचार्य श्री विजयकृष्ण गोस्वामी जब वृन्दावन में स्वामी ब्रह्मानन्दजी से मिले, तो उन्होंने पूछा, "परमहंस देव ने तो आपको सभी प्रकार की अनुभूतियाँ, दर्शन आदि करा दिये थे, फिर आप अब पुन: क्यों कठोर साधना कर रहे हैं?" ब्रह्मानन्दजी ने सहज भाव से उत्तर दिया, "उनकी कृपा से जो दर्शन तथा अनुभूतियाँ हुई हैं, अब मात्र उन्हें आत्मसात् करने की चेष्टा कर रहा हूँ।" एक बार ऐसा ही प्रश्न उनके गुरुभ्राता स्वामी सुबोधानन्द ने पूछा, "आपको तो ठाकुर ने सब करा दिया है, फिर आप इतना ध्यान-जप, इतनी साधना किसलिए करते हैं?" इस पर वे बड़े गम्भीर हो गये, फिर बोले, "उन्होंने मुझे जिस सम्पत्ति का अधिकारी बनाया है, उसे समझ भी तो लेना होगा।"[१]

अखण्डानन्दजी की तीर्थ-यात्राएँ

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद उनके त्यागी शिष्यों में, तीर्थयात्रा पर निकलने वाले सम्भवत: गंगाधर (स्वामी अखण्डानन्द) ही सर्वप्रथम थे। १८८७ ई. के फरवरी माह में एक दिन वे वैद्यनाथ धाम की यात्रा पर निकल पड़े। परन्तु बुद्धदेव के प्रति प्रबल आकर्षण के फलस्वरूप वे पहले बाँकीपुर होते हुए बोधगया जा पहुँचे। वहाँ से पैदल राजगृह जाकर वे बोधगया लौटकर 'बराबर' पहाड़ होते हुए गयातीर्थ आये। वहाँ ब्रह्मयोनि पहाड़ के नीचे उन्हें नाथ-सम्प्रदाय के विख्यात योगी गम्भीरनाथ का दर्शन मिला। उन्होंने गंगाधर को योग-साधना का उत्तम अधिकारी समझकर उन्हें वहीं रह जाने का परामर्श दिया, वे बोले, "हमारे गुरुदेव कहते थे कि हिमालय या समुद्र को देखे बिना अनन्त की धारणा नहीं होती, अत: मेरा मन हिमालय-दर्शन को व्याकुल है।"

गया में वे दुर्गाशंकर बाबू के घर ठहरे। वहीं उनका काशी विद्वान् जमींदार प्रमदादास मित्र से परिचय हुआ। वे गंगाधर को निमंत्रित करके वाराणसी में अपने घर ले आये। उनके माह भर काशीवास के दौरान प्रमदादास बाबू उन्हें शुद्ध संस्कृत उच्चारण के साथ वेद, उपनिषद्, स्तोत्र आदि की पाठ-पद्धति सिखाया करते थे। वहाँ उनका स्वामी भास्करानन्दजी के साथ घनिष्ठ परिचय हुआ। एक दिन उन्होंने मणिकर्णिका घाट के निकट रहनेवाले शिवतुल्य महापुरुष त्रैलंग स्वामी का भी दर्शन किया।

इसके बाद वे अयोध्या गये और वहाँ ४-५ दिन रहकर श्री सीताराम मन्दिर के महन्त त्यागी व प्रेमी साधु जानकीवर-शरण के साथ बातचीत करके वे विशेष मुग्ध हुए। वहाँ उन्होंने बड़ी छावनी के बाबा रघुनाथदास जी तथा उदासी बाबा माधोदास जी का भी दर्शन किया। फिर वे लखनऊ जाकर शाण्डिला तथा हत्याहरण होते हुए प्राचीन नैमिषारण्य तीर्थ पहुँचे।[२]

मार्च में वे मिस्री होते हुए हरिद्वार पहुँचे और वहाँ कुछ दिन रहकर ऋषीकेश गये। वहाँ के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्होंने सोचा – उत्तराखण्ड के आरम्भ में ही यदि ऐसा है, तो आगे न जाने कैसा होगा ! ५ अप्रैल तक वहाँ की कुटिया में रहने के बाद वे पैदल देहरादून गये और वहाँ से एक पत्र में लिखा – "ऋषीकेश का वर्णन करने में मैं अक्षम हूँ। अब तक मैंने जितने भी स्थान देखे हैं, उनमें ऐसा सर्वांगसुन्दर साधना के उपयुक्त मैं अन्य कोई स्थान नहीं देखा। अहा ! यहाँ का जो स्वाभाविक सौन्दर्य है, उसे मैं लिखकर नहीं बता सकता। ... साधुओं के लिये राजाओं ने यहाँ ५ छत्र बनवाये हैं। साधु लोग उन्हीं छत्रों में माधुकरी करके रहते हैं। माँ गंगा का क्या ही निर्मल जल है, देखते ही भक्ति उमड़ती है और बड़ा पाचक है। गंगोत्री का मार्ग यहाँ से अत्यन्त सुगम है, इसीलिये यहाँ आया हूँ। मेरी इच्छा गंगोत्री से बद्रीनारायण जाने की है।"[३]

देहरादून से राजपुर होते हुए मसूरी पहुँचकर वहाँ उन्होंने एक दक्षिण भारतीय लिंगायत साधु के मन्दिर में आश्रय लिया। उनके पास केवल कम्बल का एक लबादा तथा एक लोई के सिवा

१. ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, नागपुर, प्र.सं., पृ.

२. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, प्र.सं., पृ. २४-२८

३. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, प्र.सं. १९९६, पृ. ३६

अन्य कुछ न था। उन साधु ने उत्तराखण्ड-पथ के कष्टों का वर्णन करते हुए उन्हें अपनी ओर से काफी कुछ देने की इच्छा व्यक्त की। पर गंगाधर उनसे केवल एक लाठी लेकर साठ मील दूर स्थित टिहरी के पथ पर चल पड़े।

मसूरी से टिहरी के पथ पर थोड़ी दूर चलने के बाद गंगाधर को पहली बार हिमालय के चिर-तुषार-मण्डित शिखरों का अपूर्व सौंदर्य दृष्टिगोचर हुआ। उनके पाँव रुक गये और वे ठगे-से वहीं बैठ गये। इस नयनाभिराम दृश्य का अवलोकन करते हुए उनका शरीर रोमांचित हो उठा; मन एक अलौकिक उदात्त आनन्द तथा उत्साह से परिपूर्ण हो गया। निर्निमेष दृष्टि से बर्फ से ढँकी पर्वत-श्रेणियों का दर्शन करते हुए वे सोच रहे थे, "श्रीरामकृष्ण सभी को जिसे देखने का उपदेश देते थे, क्या यह वही पुण्यदर्शन हिमालय है? क्या यही हिमालय के शिखर-रूपी महादेव के अंग के साथ पार्वती प्रकृति-रूपी सती का मिलन है? क्या यही गिरिराज-सुता जगदम्बा उमा का मायका है? क्या यही मेरा चिर-आकांक्षित हिमालय है?" गंगाधर गिरिराज को महादेव की मूर्ति समझकर भगवान की अपार महिमा का चिन्तन करते हुए, भावविभोर होकर उनके चरणों में बारम्बार प्रणाम करने लगे।

टिहरी से धरासु जाकर वहाँ से दो दिन में ही यमुनोत्री पहुँचने के विचार से उन्होंने जंगलों के बीच से जानेवाला पगडण्डी का मार्ग पकड़ा। अकेले चलते हुए भाग्यवश कुछ पहाड़ी संगी भी मिल गये। खरशाली ग्राम के बाद मार्ग क्रमश: दुर्गमतर होता गया। भोजपत्र वृक्ष की शाखाओं का सहारा लेते हुए बड़े कष्ट से वे लोग यमुनोत्री जा पहुँचे।

हिमालय की अन्तरात्मा को इष्टरूप में दर्शन करके दिव्य आनन्द में विभोर होकर पथ की अनुभूति को गंगाधर ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया है, "अस्ताचलगामी रवि की किरणों से चिर-तुषारावृत्त हिमालय जो स्वर्णिम रूप धारण करता है, उसका मुझे इसी मार्ग में पहली बार दर्शन हुआ। सूर्यास्त के समय हिमगिरि वास्तव में हेमगिरी के रूप में प्रतिभात हुआ। उस अपूर्व दृश्य की तुलना नहीं हो सकती।... एक ही आधार में दो विभिन्न मूर्तियों का दर्शन कर मैंने सोचा – क्या यही हर-गौरी का मिलन है! एकाधार में हरगौरी का यह अपूर्व सम्मिलन एकमात्र हिमालय में ही देखने को मिला।"

संगी साधुओं की झोली में आटा, दाल, नमक और कुछ बरतन भी थे। यमुनोत्री के तप्तकुण्ड में दोनों साधुओं के साथ गंगाधर ने भी दाल-भात को उबालकर अपनी भूख मिटायी और वहाँ की उष्ण गुफा में एक रात निवास करने के बाद जंगली जानवरों से परिपूर्ण निर्जन अरण्य के बीच से होकर गंगाधर अकेले ही उत्तरकाशी जा पहुँचे। कुछ दिनों बाद उन्होंने गंगोत्री जाने के लिए भटवारी ग्राम की राह पकड़ी। चलते-चलते शाम होने के पूर्व भटवारी ग्राम से एक मील नीचे सँकरे पहाड़ी मार्ग पर उन्हें एक बीमार संन्यासी पड़े हुए दीख पड़े। उन्होंने एक ब्रह्मचारी यात्री के सहयोग से उन मरणासन्न तीर्थयात्री की यथासाध्य सेवा की और देहान्त हो जाने पर उनका अन्तिम कृत्य समन्न करके पुन: गंगोत्री के पथ पर चल पड़े। यात्रा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है, "सर्प के समान कुटिल गति से पतित-पावनी भागीरथी कर्णभेदी स्वर में अविराम 'हर-हर' की ध्वनि करते हुए नीचे उतर रही हैं। गंगोत्री में माँ का प्रवाह क्षीण होने पर भी उनके प्रचण्ड वेग के सामने सैकड़ों ऐरावतों में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि क्षण भर के लिए उसमें खड़े रह सकें।... भागीरथी के दोनों ओर स्थित अति उच्च पर्वत-शिखरें अगाध तुषार-राशि से परिपूर्ण हैं और उनके निचले भाग हरित वर्ण के देवदारु वृक्षों से आच्छादित हैं।... भागीरथी के दोनों किनारों पर कोई-कोई स्थान इतना सुन्दर, चिकना तथा शुभ्र पाषाणमय प्राकृतिक वेदी के समान हो गया है कि उसके अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है।"

गंगोत्री से कुछ दूर चल कर ही गोमुख के मार्ग में गंगाधर ने एक वानप्रस्थी ब्राह्मण को एक सुन्दर गुहा में गायत्री-पुरश्चरण करते देखा। उन्होंने सुना कि वे दो दिनों से भूखे हैं, तो वे गंगोत्री लौट गये और बहुत-से खाद्य-पदार्थ एकत्र करके उस गुफा में पहुँचा दिया। ब्राह्मण का पुरश्चरण निर्विघ्न पूरा हुआ। गंगोत्री के इस परम निर्जन दिव्यभूमि में आत्मचिन्तन तथा आत्मध्यान करते गंगाधर का एक सप्ताह अलौकिक आनन्द में बीता।

एक शीशी में वराहनगर मठ के लिए गंगोत्री का पूत जल लेने के बाद गंगाधर अब उत्तरकाशी की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर वे भीषण अतिसार रोग से ग्रस्त हो गये। इसी अवस्था में उन्होंने उत्तरकाशी छोड़कर भागीरथी के किनारे-किनारे कुछ दूर चलकर अत्यन्त निर्जन में खुले आकाश के नीचे नदी के तट पर स्थित एक बड़ी शिला पर आश्रय लिया। दो दिनों तक वे रोग का कष्ट उठाते हुए उस निर्जन स्थान पर पड़े रहे। तीसरे दिन एक पहाड़ी युवक आकर उन्हें अपनी कुटिया में ले गया और उपयुक्त पथ्य आदि देकर उन्हें पूर्णत: चंगा कर डाला। फिर टिहरी पहुँचकर उन्होंने साथ लायी हुई गंगोत्री के जल की शीशी डाक से वराहनगर मठ को भेज दी। उसे पाकर मठ के भाइयों को पता चला कि गंगाधर हिमालय-भ्रमण कर रहे हैं।

इसके बाद गंगाधर ने चन्द्रवदनी पीठ का दर्शन करने की इच्छा से वनपथ में चल पड़े। यह मन्दिर टिहरी तथा देवप्रयाग के बीच वन के भीतर एक उच्च पर्वतशिखर पर स्थित है। यहाँ पर दाक्षायणी सती का हृदय गिरा था। देवी का यह मन्दिर एक अपूर्व सौन्दर्य-केन्द्र है – मानो गिरिराज गर्वपूर्वक जगदम्बा के मन्दिर को सिर पर धारण किए हुए खड़े हैं और प्रकृति देवी भक्तिपूर्ण चित्त से अपने फल-पुष्पों द्वारा प्रतिदिन माँ की पूजा करके धन्य हो रही हैं। दो दिन मन्दिर के प्रांगण में रहकर वे

श्रीनगर (उत्तरांचल) गये और वहाँ कमलेश्वर मठ में ठहरे। यहाँ से वे अलकनन्दा और मन्दाकिनी के संगम तथा केदारनाथ और बद्रीनारायण के मार्गों के मिलनस्थल रुद्रप्रयाग को पार करते हुए अगस्त्यमुनि पहुँचे। वहाँ वे एक वैष्णव साधु से मिले। उन साधु को सम्बलहीन देखकर उन्होंने उनके ध्यानमग्न शरीर पर अपना कम्बल ओढ़ा दिया। फिर वे ऊखीमठ गये। अब वे केदारनाथ के पथ पर चल पड़े। गुप्तकाशी में उनकी एक पूर्व-परिचित उदासी साधु से भेंट हुई। यथाक्रम केदारनाथ के निकट पहुँचकर उनके मन में जिस अपूर्व भाव का उदय हुआ था, उसका उन्होंने स्वयं ही वर्णन किया है, "केदारशैल के नीचे से मैंने जिस परम अद्भुत विराट् मूर्ति का दर्शन किया, हिमालय में इतने दिन में और कहीं भी वैसा दर्शन नहीं मिला। हर-पार्वती के प्रिय विलास-निकेतन केदारशैल की महत्ता एवं विलक्षणता से मैं जैसा विस्मित व मुग्ध हुआ और केदारनाथ पहुँचकर मैं गिरिराज के साथ जैसा हृदय खोलकर मिला, वैसा और कहीं भी नहीं हुआ।"

प्रथम तिब्बत-यात्रा (१८८७ ई.)

फिर बद्रीनारायण का दर्शन करने के बाद उनका बहु-आकांक्षित तिब्बत-भ्रमण आरम्भ हुआ। पहले वे पास ही स्थित मानाग्राम गये। वहाँ के ग्रामप्रधान शेरसिंह ने बताया, "इधर का रास्ता दुर्गम तथा संकटों से परिपूर्ण है, मानसरोवर भी दूर पड़ता है। सन्तगण जोशीमठ से नितिपास होकर ही तिब्बत जाते हैं।" पर मानाग्राम के एक पंच शोभा प्रधान ने कहा कि वह चार-पाँच दिन बाद ही उन्हें अपने साथ तिब्बत ले जायगा। तभी तिब्बत के थूलिंग बौद्ध मठ के एक कर्मचारी व्यवसाय के सिलसिले में वहाँ आये। एक दिन बड़े सबेरे गंगाधर शोभा प्रधान के साथ तिब्बत के पथ पर चल पड़े। अलकनन्दा और सरस्वती का संगम केशव-प्रयाग में सरस्वती की प्रबल धारा में पड़े विशाल प्रस्तर-खण्डों द्वारा रचित प्राकृतिक सेतु को पार करके दोनों नदीतट के मार्ग से चढ़ाई करने लगे। घने मेघों के बीच कभी-कभी तो वे एक-दूसरे से अदृश्य हो जाते और शब्द की सहायता से दिशा ठीक रखते हुए प्राय: अन्धों के समान ही बड़ी सावधानीपूर्वक अग्रसर होने लगे। मानापास के बीच में जगदम्बा पार्वती की जन्मभूमि 'हिमालय पुरी' देखकर गंगाधर ने स्वयं को धन्य माना। पूर्व-निर्धारित स्थान पर अपने कर्मचारियों से भेंट न होने पर शोभा प्रधान को बड़ी चिन्ता हुई। सारी जरूरी चीजें उन्हीं लोगों के साथ थीं। शाम तक चलने के बाद दोनों ने एक गुफा में रात बितायी। उस रात दोनों को ही भोजन तथा निद्रा से वंचित रह जाना पड़ा। गंगाधर को क्रमश: श्वास-प्रश्वास में भी कष्ट होने लगा। इस प्रकार हिमालय की प्रथम तुषारमाला को लाँघकर वे लोग तिब्बत के हिमाच्छन्न पठारी भाग में प्रविष्ट हुए। वहाँ से प्रधान ने गंगाधर को थूलिंग मठ का मार्ग बताया और अपने व्यापार के निमित्त दूसरी ओर चल पड़े।

गंगाधर अपने सामान्य गरम वस्त्रों के साथ नंगे-पाँव अपने निर्दिष्ट पथ पर चल पड़े और बर्फ से आच्छादित भूमि को पार करके सन्ध्या के समय कोई आश्रय न पाकर खुले में ही बर्फ पर सो गये। भाग्यवश अगले दिन सुबह निकटवर्ती बौद्ध मठ के एक साधु जलाने की लकड़ी ढूँढ़ते उधर आ निकले और उन्हें यत्नपूर्वक उठाकर अपने मठ में ले गये। उस बेहोशी की सी ही अवस्था में नग्नप्राय गंगाधर के शारीरिक लक्षणों को देखकर थूलिंग मठ के लामागण विस्मित होकर कह उठे, "गे-लाम !" अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचारी ! ... आग की सेंक तथा अन्य प्रकार से सेवा-सुश्रूषा करके लामाओं ने उन्हें स्वस्थ कर दिया। थूलिंग मठ में वे प्रीति एवं सम्मान के साथ निवास करने लगे।

गंगाधर के पास सर्वदा श्रीरामकृष्ण का एक चित्र रहा करता था। थूलिंग मठ में निवास के दौरान एक लामा ने उनके हाथ से वह चित्र लेकर भगवान तथागत की मूर्ति के पास रख दिया और उसकी पूजा-आरती करने के बाद उनसे पूछा, "यह चित्र तुम्हें कहाँ मिला? ये कौन हैं? ये नेत्र साधारण मनुष्य के नहीं हैं – ये भगवान बुद्ध हैं !" बाद में उन्होंने वह चित्र लौटा दिया।

पन्द्रह दिनों के भीतर ही गंगाधर ने तिब्बती भाषा सीख ली और वहाँ के धर्म तथा रीति-रिवाजों के विषय में बहुत-सी बातें जान लीं और उनकी धर्मचर्चा में भाग लेकर उन्होंने लामाओं को मुग्ध कर लिया। गंगाधर समस्त मठवासियों की श्रद्धा एवं प्रीति के भाजन हुए। टासी लामा का उनके प्रति बड़ा स्नेह था। एक लामा ने एक दिन उनकी घी के प्रदीप से आरती उतारी।

गंगाधर ने देखा कि तिब्बत में जो कुछ है, सब मठों-मन्दिरों में ही है। मन्दिरों में विभिन्न देवताओं की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ थीं और मठ लामाओं से परिपूर्ण थे। किसी किसी मठ में तीन-चार हजार और किसी में सात हजार तक लामा रहकर पूजा-पाठ तथा जप-ध्यान आदि का अभ्यास किया करते थे। वे लोग 'ॐ मणिपद्मे हुँ' का जप या 'पूर्णशून्य मैं' पर ध्यान करते थे। सबका प्रधान मत था – "बुद्धदेव मेरे इष्ट हैं और मेरा सर्वस्व सबके कल्याणार्थ है।" इस भाव ने गंगाधर को विशेष रूप से प्रभावित किया। तिब्बत के शान्त, सुन्दर तथा गम्भीर परिवेश के बीच साधना के अनुकूल स्थान पाकर वे बड़े आनन्दित थे।

पर वहाँ की अधिकांश जनता निर्धन थी, क्योंकि उस अंचल में अन्न की उपज काफी कम थी; सामान्य जन भेड़-बकरी पालकर जीविका चलाते थे और वर्ष का अधिकांश समय बड़े कष्टपूर्वक छोटे छोटे तम्बुओं में बिताते थे। दूसरी ओर मठों-मन्दिरों का ऐश्वर्य तथा लामाओं का खान-पान व रहन-सहन में विलासिता देखकर उनसे रहा नहीं गया। एक दिन वे अपनी पीड़ा लामाओं के समक्ष व्यक्त कर बैठे। लामाओं को उनका यह मनोभाव जरा भी नहीं भाया और एक दिन उन्होंने गंगाधर को बुलाकर म्यान-सहित तलवार उनके कन्धे पर रखकर चेतावनी दी। ऐसे परिवेश में उनके लिये रह पाना असम्भव हो उठा। और इस प्रकार तीन-

चार महीने तिब्बत के इस पश्चिमी अंचल में रहकर, वहाँ की रीति-नीति विषयक काफी अनुभव लेकर अक्तूबर (१८८७) के अन्त में वे नीतिपास के रास्ते बदरी अंचल लौट आये।

द्वितीय तिब्बत-यात्रा (१८८८ ई.)

अगले वर्ष पुन: तिब्बत जाकर कैलास, मानसरोवर और लामाओं के प्रधान तीर्थ ल्हासा का दर्शन करने की बात सोचकर गंगाधर ने तिब्बती व्यवसाइयों का साथ छोड़ दिया। घोर ठण्ड के बीच बदरीपुरी में कुछ दिन बिताने के बाद वे हरिद्वार आये और वहाँ केवल तीन-चार दिन ठहरने के बाद ही वे उत्तराखण्ड के अन्य तीर्थों का दर्शन करने की इच्छा लेकर पुन: ऊपर चढ़ने लगे। इस बार उन्होंने हिमालय के पंच-केदार तथा पंच-बदरी तीर्थों का दर्शन करके परम आनन्द प्राप्त किया।

हिमालय के एक दुर्गम क्षेत्र में लाठी के समान खड़ा एक शिखर 'दशरथ का डण्डा' कहलाता है। कम लोग ही उधर जाते हैं। स्थान हिंसक जन्तुओं से परिपूर्ण है। गंगाधर ने वहाँ तीन रातें ध्यान में बितायीं। एक दिन चाँदनी रात के समय ध्यानमग्न अवस्था में उन्हें अभूतपूर्व दर्शन हुआ। उन्होंने बताया था, "सहसा अनुभव हुआ कि ठाकुर पीछे खड़े हैं, उनकी धोती का छोर उनके कन्धे पर है। वे कह रहे थे, 'देख, पुरुष-प्रकृति की अनादि अनन्त लीला ! हिमालय पुरुष है और वृक्ष-लता, फल-फूल आदि प्रकृति हैं ! इसी को पुरुष के वक्ष पर प्रकृति का नृत्य कहते हैं ! इतना कह कर वे गाने लगे (भावार्थ) – ओ पगली, अब और मत नाच, महादेव के सीने से नीचे उतर आ, उन्हें कष्ट हो रहा होगा। शिव अभी मरे नहीं, जीवित हैं और महायोग में डूबे हुए हैं। तुम्हारे नृत्य के वेग से उनके अस्थि-पंजर टूट जायेंगे। विषपायी के शरीर में अब उतना बल कहाँ ! इसीलिए तो वे आँखें मूँदे हुए हैं।' ठाकुर मेरे कन्धे पर हाथ रखे यही भजन गा रहे थे। वह रात जिस विमल आनन्द में बीती, वह अवर्णनीय है !"

इन निर्जन स्थानों के गम्भीर प्राकृतिक परिवेश के बीच ध्यान-धारणा और दिव्य अवर्णनीय आनन्द के साथ हिमालय के दुर्गम तीर्थों का दर्शन करते हुए उनके छह महीने बीत गये। १८८८ ई. के मई में बदरीनाथ का पट खुलते ही गंगाधर पुन: वहाँ जा पहुँचे। तपोभूमि हिमालय के प्राणकेन्द्र बदरिकाश्रम ने उन्हें बारम्बार आकृष्ट किया था। वहाँ तीन महीने तप करने के बाद जुलाई में उन्होंने कैलाश-दर्शन की आकांक्षा से शिपछिलाम पास के मार्ग से तिब्बत के दाबा जिले में प्रवेश किया। वहाँ से लासा जाने का प्रयास करने पर स्थानीय पुलिस ने उन्हें अँगरेजों का गुप्तचर समझकर गिरफ्तार कर लिया। व्यवसायी मित्रों ने उन्हें जमानत पर छुड़ाया। पुलिस ने उन्हें ल्हासा जाने से मना किया, पर कैलाश-मानसरोवर जाने की अनुमति दे दी।

व्यवसाइयों की एक टोली के साथ गंगाधर ने कैलाश-मानसरोवर की यात्रा की। इस मार्ग पर चोर-डकैतों का बड़ा उपद्रव था। एक दिन गंगाधर डकैतों के हाथ में पड़ गये और उन लोगों को गुड़ तथा मुरमुरे खिलाकर मुक्ति पायी।

इसी प्रकार संकटों से परिपूर्ण पथ पर चलते चलते वे अन्तत: शिव-पार्वती के नित्यधाम पहुँचे और कैलाश पर्वत की अपार गम्भीरता, सुन्दरता तथा महिमा से मुग्ध होकर महादेव के ध्यान में डूब गये। मानसरोवर तिब्बत के ऊँचे पठार पर स्थित पिघले हुए बर्फीले जल का एक विशाल स्वच्छ सरोवर है। इसकी परिधि लगभग ५० मील है और इसके चारों ओर ८ बौद्ध मठ हैं। मठों के भीतर लामागण तथा विभिन्न देवताओं की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ हैं। तुषारमण्डित कैलाश पर्वत ही स्वयम्भू-लिंग मूर्ति हैं। इस पर्वत के भी किनारे-किनारे ६ मठ हैं। गंगाधर को इस दिव्य-भूमि में कुछ दिन रहकर साधन-भजन में डूबे रहने की प्रेरणा हुई, परन्तु इस बार उन्होंने किसी मठ में आश्रय न लेकर कैलाश के निकट ही 'छेकरा' नामक स्थान में ल्हासा के एक भक्तिमान खम्पा (यात्री) का आतिथ्य स्वीकार किया। एक दिन गंगाधर की शय्या के निकट श्रीरामकृष्ण का चित्र देखते ही उन धनाढ्य खम्पा ने उसे हाथ में उठा लिया और उसकी ओर निहारते हुए वे थोड़ी देर संज्ञाशून्य होकर बैठे रहे। चेतना लौटने पर उन्होंने गंगाधर से कहा, "यह चित्र तुम्हें कहाँ मिला? इसे मेरे पास छोड़ दो। मैं प्रतिदिन पूजा करूँगा। ये तो साक्षात बुद्ध हैं ! नहीं तो इनका स्पर्श करते ही मेरी ऐसी अवस्था क्यों हो जाती? मुख का ऐसा भाव मनुष्यों में नहीं होता !" इसके बाद बुद्ध आदि देवताओं के साथ ही उन्हें भी सिंहासन पर रखकर वे प्रतिदिन धूप-दीप से पूजा करने लगे। इस छेकरा ग्राम में पाँच महीने बिताने के बाद इस बार भी वे नितीपास के मार्ग से नवम्बर के प्रारम्भ में बदरी-नारायण लौटे। वहाँ का 'पट' बन्द हो जाने पर इस बार वे कुमायू, बागेश्वर, जागेश्वर, अल्मोड़ा, नैनीताल, रानीखेत आदि का दर्शन करते हुए कर्णप्रयाग आये। २० अगस्त (१८८८) को स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक पत्र में लिखा है, "मेरे एक वयोवृद्ध गुरुभाई (अद्वैतानन्द), जो केदारनाथ और बदरीनाथ की यात्रा करके अभी वृन्दावन लौटे हैं, गंगाधर से मिले। गंगाधर दो बार तिब्बत और भूटान हो आया है। वह बड़े मजे में है और उनसे मिलकर आनन्दोल्लास से रो पड़ा।... जाड़ा उसने कनखल में बिताया।"[४]

१८८९ ई. के जून में गढ़वाल-श्रीनगर से डेढ़ कोस नीचे एक जगह गंगाधर की सहसा स्वामी शिवानन्द के साथ भेंट हो गयी। तिब्बती लामा की पोशाक पहने गंगाधर के हिम से झुलसे काले चेहरे को देखकर वे दूर से उन्हें पहचान नहीं सके। गंगाधर ने "दादा, दादा" कहकर उन्हें पुकारा। "गंगा, गंगा – तू जीवित है? तेरे लिये मठ में रोना-धोना मचा हुआ है" – यह कहकर शिवानन्द ने गंगाधर को आलिंगन में जकड़ लिया। उसी अवस्था में दोनों रोने लगे। इसके बाद दोनों केदार के पथ पर चल पड़े।

४. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, भाग १, प्रथम सं., पृ. ४६८; और विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र.सं., प्रथम खण्ड, पृ. ३३१-३२

केदार के बाद दोनों ने बदरीनाथ का दर्शन किया।[५]

बदरीनाथ से ही १९ जून १८८९ के दिन गंगाधर ने अल्मोड़ा के लाला बद्रशाह को शिवानन्दजी का परिचय देते हुए एक पत्र में लिखा था, "ये कल (अल्मोड़ा के लिये) प्रस्थान करेंगे। ... सम्भवत: अगले महीने मैं ल्हासा के लिये चल दूँगा।"[६]

वहीं से शिवानन्दजी ने गंगाधर का सविस्तार संवाद देते हुए वराहनगर मठ को पत्र लिखा और फिर अल्मोड़ा की ओर चल पड़े। १८८९ में २६ जून को स्वामी विवेकानन्द जी मठ से एक पत्र में लिखते हैं, "मुझे अब गंगाधर के समाचार मिल गये हैं। उसकी मेरे एक गुरुभाई से भेंट हुई। दोनों इस समय उत्तराखण्ड में हैं। ... शिवानन्द नामक एक गुरुभाई गंगाधर को केदारनाथ की राह में श्रीनगर में मिले। गंगाधर ने यहाँ दो पत्र भेजे हैं। पहले साल उसे तिब्बत जाने की अनुमति नहीं मिली, पर दूसरे साल मिल गयी। लामा लोग उससे बहुत प्रेम करते हैं और उसने उनसे तिब्बती भाषा भी सीख ली है। उसका कहना है कि तिब्बत में नब्बे प्रतिशत जनसंख्या लामाओं की है। परन्तु सम्प्रति वे लोग तांत्रिक ढंग की उपासना ही अधिक करते हैं।"[७]

तृतीय तिब्बत-यात्रा (१८८९ ई.)

बदरिकाश्रम में कुछ काल बिताने के बाद १८८९ ई. की जुलाई में गंगाधर ने नितीपास के मार्ग से तीसरी बार तिब्बत में प्रवेश किया। हिमालय गंगाधर का परमप्रिय स्थान था। वे कहते, "हिमालय! पहाड़-पर-पहाड़ – कितने ही स्थान चिर-हिम-मण्डित हैं। पूरे वर्ष वहाँ का बर्फ नहीं पिघलता। सब श्वेत चमकता है – निर्मल, निस्तब्ध।" गंगाधर की इस सहज हिमप्रीति ने तिब्बती तथा पहाड़ी लोगों को मुग्ध कर लिया था। हिमश्रेणी को बारम्बार पार कर हिमालय में भ्रमण करते रहने के कारण वे उन लोगों के बीच 'बरफानी बाबा' के नाम से परिचित हुए। इस अंचल के अनेक निवासी उन्हें जानते और मानते थे।

तिब्बत पहुँचते ही वे ल्हासा जाने की तैयारी करने लगे। पर इस बार कुछ तिब्बती लोगों ने उन्हें अँगरेजों का गुप्तचर समझकर उनके प्रति उल्टा भाव दिखाया। पुराने मित्रों ने भी उनके प्रति शत्रु के समान आचरण किया। किसी-किसी ने उन्हें भविष्य में तिब्बत आने से मना भी किया। तीन बार कठोर प्रयास करने के बाद भी ल्हासा पहुँच पाने में असफल होकर इस बार वे तिब्बत के पश्चिम में लद्दाख की ओर अग्रसर हुए। नवम्बर (१८८९) में लद्दाख पहुँचने पर उनका रक्तिम वर्ण, लामाओं के समान व्यक्तित्व तथा वेषभूषा और चार भाषाओं का ज्ञान देख स्थानीय गवर्नर ने उनका बड़ा सत्कार किया और एक सम्माननीय अतिथि के रूप में खूब यत्नपूर्वक अपने घर में रखा।

परन्तु लद्दाख के अंगरेज गवर्नर के उर्दू तथा फारसी भाषा के शिक्षक ने उन पर गुप्तचर होने का सन्देह करके गवर्नर और गोरे कमिश्नर से कहा, "ये एक विदेशी व्यक्ति हैं और अवश्य ही किसी राजनीतिक उद्देश्य से साधु का रूप धारण किये हुए हैं, नहीं तो ये क्यों दो-तीन वर्षों से इतने कष्ट उठाकर तिब्बत में भ्रमण कर रहे हैं?" गवर्नर लद्दाखी मुसलमान थे और अँगरेजों से बड़ा डरते थे। इस कारण उस शिक्षक की बातों से भयभीत होकर दो-तीन दिन बाद ही सहसा उन्होंने गंगाधर को अपना घर छोड़कर धर्मशाले में चले जाने को कहा।

तभी काश्मीर जानेवाले कुछ तिब्बती उनसे अनुमति-पत्र लेने आये। गवर्नर ने गंगाधर से उन्हीं का साथ पकड़ने को कहा, नहीं तो वहाँ की भयानक ठण्ड में उनका जीवन संकट में पड़ जाता। गंगाधर उन तिब्बती लोगों के साथ काश्मीर के मार्ग पर चल पड़े। रास्ते में इतनी ठण्डक थी कि हाथ के अकड़ जाने से रोटी तक तोड़ने में कठिनाई होती थी। गंगाधर ने सोचा कि फिर लद्दाख लौट जायें, परन्तु सहयात्रियों ने उन्हें ठण्ड से बचाने के लिए रूई-भरा पाजामा तथा गरम वस्त्र दिये और आग जलाकर उनके शरीर में उष्णता पहुँचायी। घोड़े पर सवार होकर श्रीनगर के समीप पहुँचते ही एक काश्मीरी पण्डित ने उन्हें राजा का आदेश दिखाकर अगले दिन मजिस्ट्रेट से मिलने को कहा।

उसी समय से काश्मीरी पुलिस गंगाधर के पीछे लगी और अगले दिन मजिस्ट्रेट से मिलने पर उन्हें बताया गया, "इसमें राजा का कोई हाथ नहीं। ब्रिटिश रेजीडेण्ट निस्बत साहब के हुक्म से आपको गिरफ्तार किया जाता है। बहुत दिनों से आपकी तलाश चल रही थी। रेजीडेण्ट साहब को तार किया गया है। उनका उत्तर आने तक आप बड़ी कोतवाली में रहिये, आपको जो भी आवश्यकता होगी, वह पुलिस की ओर से मिल जायेगा।" इस प्रकार गंगाधर को थाने में नजरबन्द करके रख दिया गया।

वहाँ से उन्होंने वराहनगर मठ के स्वामी रामकृष्णानन्द और काशी के प्रमदादास मित्र को सब कुछ सूचित करते हुए पत्र लिखकर अपने कारावास की सूचना दी। उन लोगों ने रेजीडेंट को पत्र लिखा – ये मठ के साधु हैं, हमारे परिचित हैं और धर्म के अतिरिक्त इनका अन्य कोई उद्देश्य नहीं। बाद में रेजीडेण्ट निस्बत के काश्मीर लौट आने पर गंगाधर ने उनके साथ भेंट की। रेजीडेण्ट ने उन्हें रिहा कराते हुए कहा, "अब आप स्वाधीन हैं और कलकत्ता लौट सकते हैं।"[८]

आखिरकार वे वराहनगर मठ के लिए रवाना होकर ९ जून (१८९०) को बाली स्टेशन पर उतरे। सुदीर्घ साढ़े तीन वर्षों के बाद अपने प्राणों से भी प्रिय स्वामी विवेकानन्द जी तथा अन्य गुरुभाइयों ने मठ में गंगाधर का स्वागत किया। ❑ ❑ ❑

५. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, प्र.सं., पृ. ५१

६. स्वामी विवेकानन्द की अल्मोड़े की तीन यात्राएँ, श्रीरामकृष्ण कुटीर, अल्मोड़ा, सं. १९६३, पृ. ३-४

७. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र.सं., प्रथम खण्ड, पृ. ३३५-३६

८. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, प्र.सं., पृ. ५१-५५

स्वामी अचलानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

कल्याणानन्द जी से स्वामीजी के सेवादर्श के विषय में नवीन प्रेरणा पाकर केदारनाथ, यामिनीरंजन तथा अन्य मित्र आर्तों, असहायों तथा पीड़ितों की सेवा में लग गये। एक दिन एक अनाथ वृद्धा को सड़क के किनारे मरणासन्न पड़ी देखकर वे लोग उसे स्वयं ही डोली में उठाकर भेलूपुरा के अस्पताल में ले गये। वृद्धा की हालत इतनी खराब थी कि अस्पताल के लोग उसे भर्ती करने को राजी नहीं हुए। दूसरा कोई चारा न देख युवकों ने उसे पुन: डोली में उठाया और चौकाघाट के अस्पताल में भर्ती कराकर उसकी सेवा-शुश्रूषा की सारी व्यवस्था की थी। कहीं भी किसी अनाथ या पीड़ित को देखते ही वे लोग दौड़कर उसकी सेवा में लग जाते थे। जरूरत होने पर इस सेवा के लिये वे सम्पन्न लोगों के द्वार पर भिक्षा भी माँगते थे। पर संसार-बन्धन से छूटने के लिये केदारनाथ की आकुलता दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी।

एक दिन सहसा चारुचन्द्र ने केदारनाथ से कहा, "अब प्रतीक्षा किस बात की? बस, निकल पड़िये!" यह बात केदारनाथ के प्राणों में गहराई तक लग गयी। चारुचन्द्र की बात से सहमत होकर उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब देरी करना ठीक नहीं। परन्तु जायें तो किधर जायें? कौन देगा मार्ग का पता? उन्हें याद आया कि निरंजनानन्द जी हरिद्वार में हैं – उन्होंने ही तो सबसे पहले कानों में वैराग्य का सन्देश दिया था। उन्हें याद आया – एक दिन निरंजन महाराज ने खूब उत्तेजित होकर कहा था, "उन दिनों ठाकुर के पास बहुत-से भक्त आते-जाते थे – उनमें से जिनकी कम आयु थी, जो भक्तिमान तथा सरल स्वभाव के थे, जिनके चित्त पर संसार का किसी तरह का दाग नहीं पड़ा था, उनमें से यदि कोई कहता – 'मैं विवाह नहीं करूँगा', तो सुनकर वे इतने खुश होते कि आनन्द में उसे कन्धे पर उठाकर नाचने लगते।" केदारनाथ ने अपने मित्र चारुचन्द्र के समक्ष अपने हृदय के भाव व्यक्त करते हुए सब कुछ कह डाला। चारुचन्द्र भी इस पर अत्यन्त आनन्दित हुए और अपने मित्र के लिये हरिद्वार में निरंजनानन्द जी को एक पत्र लिख दिया। निरंजन महाराज ने पहले तो थोड़ी आपत्ति जतायी, पर चारुचन्द्र के दुबारा लिखने और केदारनाथ के वैराग्य की विश्वसनीयता के विषय में नि:संशय हो जाने पर उन्होंने अनुमति दे दी थी। उन्होंने केदारनाथ को एक गैरिक वस्त्र तथा एक कमण्डलु लाने का भी निर्देश दिया था। भाद्र महीने की संक्रान्ति के दिन केदारनाथ ने बिना किसी को बताये हरिद्वार के लिये प्रस्थान किया। १८९९ ई. के अगस्त में किसी दिन वे निरंजन महाराज के पास जा पहुँचे। उन्हें साष्टांग प्रणाम करके वे बोले, "श्रीरामकृष्ण के चरणों में आश्रय पाने की आशा में गृहत्याग करके आपके पास आया हूँ।" दोनों की यह भेंट हरिद्वार में हुई थी – उस समय निरंजनानन्द जी स्वयं ही केदारनाथ को लेने स्टेशन आये थे।

निरंजनानन्द जी हरिद्वार के निकट कनखल में वर्तमान महानन्द मिशन के सामने एक जीर्ण दुमंजले मकान के एक कमरे में रहकर साधन-भजन कर रहे थे। केदारनाथ को भी उसी मकान में उनके पास आश्रय मिला। पहुँचने के बाद वाले दिन ही निरंजनानन्द जी ने केदारनाथ को बुलाकर ठाकुर का चरणामृत पिलाकर एक गेरुआ वस्त्र दिया और इसके साथ ही यह भी कहा, "ठाकुर के नाम का जप करो।" केदारनाथ ने निरंजनानन्द जी के साथ-साथ घूमकर माधुकरी भिक्षा करना भी सीख लिया। वैसे उन दिनों निरंजन स्वामी का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था – पाँच-सात दिनों बाद ही उन्हें नीचे उतरकर कलकत्ते जाना पड़ा था। इसके बाद केदारनाथ अकेले ही रहने लगे। एक दिन दोपहर में वे छत्र में भिक्षा लेने गये थे। छत्र के कोठारी ने उन्हें पहचानने में भूल करके कहा, "अभी बैठे रहो। साधुओं को भिक्षा देने के बाद यदि कुछ बचा, तो कँगलों को देते समय मिलेगा।" कोठारी की यह बात सुनकर केदारनाथ को लगा कि रोटी के दो टुकड़ों के लिये क्या अब कँगलों की टोली में प्रवेश करना होगा! उस दिन अभिमान से उनके नेत्रों से झर-झर आँसू निकल पड़े थे। उस दिन वे छत्र से भिक्षा लिये बिना ही लौट आये थे और अगले पाँच-छह दिन वे छत्र में नहीं गये। कुछ भक्तों ने उनकी इस दुर्दशा की बात सुनकर कुछ दिन उनके भोजन की व्यवस्था की थी। अस्तु। इसके बाद जब वे छत्र में गये, तो दुबारा उन्हें कोई असुविधा नहीं हुई। हरिद्वार का सघन आध्यात्मिक परिवेश से केदारनाथ का मन उत्तरोत्तर शान्ति से परिपूर्ण होने लगा। वे निश्चिन्त मन से ध्यान-धारणा आदि करके परम तृप्ति का अनुभव करने लगे। परवर्ती काल में उन दिनों का स्मरण करते हुए वे कहा करते थे –

"हरिद्वार-कनखल का परिवेश मुझे बड़ा अच्छा लग रहा था। लोगों की संख्या भी खूब कम थी। इधर गंगा की धारा

कलकल बहती थी और सामने हिमालय का दर्शन होता था। मन अपने आप ही अन्तर्मुखी हो जाता था। मैं उसी मकान के सबसे ऊपर के कमरे में रहता था। वहाँ से चारों ओर का दृश्य बड़ा ही सुन्दर दीख पड़ता था। स्थान खूब मनोरम तथा निर्जन था। मैं उसी कमरे में बैठकर ध्यान करता और मेरे मन में आता कि यहाँ पाँच वर्ष तक तपस्या करने पर निश्चित रूप से भगवान की प्राप्ति हो जायेगी। सच कहता हूँ, उन दिनों मुझे ऐसा ही लगता था।''

करीब ढाई महीने इसी प्रकार कनखल में उनका साधन-भजन चलता रहा। अचानक केदारनाथ को समाचार मिला कि निरंजनानन्द जी को खूनी आँव हो गया है और वे बड़े बीमार हैं। उन्होंने पत्र लिखकर सूचित किया था, ''मेरा स्वास्थ्य बड़ा खराब है, सेवा आदि में असुविधा हो रही है – तुम्हारे आ जाने से बड़ा अच्छा होता।'' केदारनाथ विचलित होकर तुरन्त कलकत्ते की ओर चल पड़े। चारुचन्द्र वाराणसी स्टेशन पर आकर अपने मित्र से मुलाकात कर गये थे। वहाँ से दोनों एक साथ मुगलसराय तक गये और उसके बाद केदारनाथ को कलकत्ते की गाड़ी में बैठाकर चारुचन्द्र वाराणसी लौट आये।[१]

निरंजन महाराज उन दिनों भवानीचरण दत्त लेन में मास्टर महाशय के एक किराये के मकान में रहते थे। स्वामी ब्रह्मानन्द आदि गुरुभाई भी उन दिनों उनकी चिकित्सा आदि की व्यवस्था कर रहे थे। केदारनाथ के इस मकान के दरवाजे पर पहुँचते ही, जो व्यक्ति उन्हें घर के भीतर निरंजनानन्द जी के पास ले गये, वे स्वयं 'वचनामृत'कार श्रीम अर्थात् मास्टर महाशय थे। केदारनाथ को पाकर निरंजन महाराज बड़े प्रसन्न हुए। केदारनाथ ने भी जी-जान से उनकी सेवा में मनोनियोग किया। इस काल की एक अन्य स्मरणीय घटना यह है कि केदारनाथ को यही पर सर्वप्रथम स्वामी ब्रह्मानन्द का दर्शन तथा संग मिला था।

स्वामी ब्रह्मानन्द के अपूर्व भाव-मण्डित रूप ने केदारनाथ को बड़ा ही आकृष्ट किया था। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि किसी प्रकार उनके साथ थोड़ा बातचीत करने का सुयोग मिले। आखिरकार महाराज ने स्वयं ही उन्हें यह सुयोग दिया। एक दिन निरंजन महाराज के पास ही एक तख्त पर लेटकर वे स्वयं ही बोले, ''अच्छा, जरा मेरा शरीर दबा दो तो!'' केदारनाथ को तो मानो अपना मनोवांछित वरदान मिल गया। वे बड़ी श्रद्धा के साथ महाराज के हाथ-पाँव तथा शरीर दबाने लगे। महाराज ने सहसा उनका एक हाथ खींच लिया और अपने हाथ के ऊपर रखकर उसका वजन देखने के बाद बोले, ''वाह, अच्छा है, अच्छा है! थोड़ा कुछ करने से ही हो जायगा।'' महाराज के इस अयाचित आशीर्वाद का स्मरण करते हुए बाद के दिनों में वे प्राय: कहा करते, ''शरीर दबवाने के बहाने उन्होंने मुझे अपना बना लिया। अल्प काल के उस स्नेह के द्वारा ही उन्होंने मुझे चिर काल के लिये बाँध लिया।''

निरंजन महाराज की दीर्घ काल तक चलनेवाली कठिन रोग की चिकित्सा और उनके दुर्बल शरीर के सेवा-शुश्रूषा का पूरा भार दिन-रात वहन करने में केदारनाथ को बड़ी कठिनाई होने लगी। मठ से स्वामी बोधानन्द आकर उनकी सेवा में लग गये, पर थोड़े दिनों में वे स्वयं भी बीमार पड़ गये। अखिल मिस्त्री लेन में एक किराये का मकान लेकर निरंजन महाराज को वहीं रखकर उनकी चिकित्सा कराने की व्यवस्था हुई और अब से स्वामी प्रेमानन्द ने उनकी सेवा आदि का सारा दायित्व स्वयं स्वीकार कर लिया। तब बोधानन्द और केदारनाथ बलराम-मन्दिर होते हुए बेलूड़ मठ चले गये। बलराम-मन्दिर में ही केदारनाथ को स्वामी सारदानन्द का पहली बार दर्शन मिला। सारदानन्द जी ठीक उसी समय बारीसाल जाने की तैयारी कर रहे थे। केदारनाथ ने मठ में जाकर कुछ दिन निवास किया और उसके बाद ब्रह्मानन्द जी की अनुमति लेकर कुछ दिन के लिये एक बार फिर वाराणसी गये।

यह सोचकर कि गेरुए वस्त्र में वहाँ जाने पर घर के लोग निरर्थक ही शोरगुल मचायेंगे, उन्होंने कलकत्ते के ही एक मित्र के घर जाकर गेरुए के स्थान पर सफेद धोती पहन ली। उनके वाराणसी लौटने पर उनके पिता, दादा तथा मित्रगण नि:सन्देह बड़े खुश हुए, पर कुछ सगे-सम्बन्धियों ने उनका तिरस्कार भी किया था। कुछ दिन घर में बिताने के बाद ही मानो केदारनाथ का दम घुँटने लगा। उन्होंने एक बार फिर निरंजन महाराज को पत्र लिखकर उन्हें अपनी मानसिक दशा से अवगत कराया। उत्तर में उन्होंने केदारनाथ को जयरामवाटी जाकर श्रीमाँ का दर्शन करने की सलाह दी। वे भी तदनुसार श्रीधाम कामारपुकुर होते हुए जयरामबाटी जाकर जगदम्बा के चरणों में उपस्थित हुए। माँ के सान्निध्य में केदारनाथ के दिन बड़े आनन्द में बीतने लगे। देखते-ही-देखते दो महीने बीत गये। श्रीमाँ ने केदारनाथ को देखते ही कहा था, ''यह लड़का साधु होगा।''

जयरामबाटी से वाराणसी जाने के पूर्व वे एक बार फिर कलकत्ते आये। लगता है कि विभिन्न मानसिक द्वन्दों में पड़कर केदारनाथ तब भी यह निश्चित नहीं कर पा रहे थे कि उनके लिये संन्यासी होना ही उचित है या ब्रह्मचारी का व्रत धारण करके घर में रहना ठीक है। एक दिन जब उन्होंने श्वेत वस्त्रों में ही बलराम-मन्दिर में जाकर ब्रह्मानन्द जी का दर्शन किया, तो उन्होंने विनोद करते हुए कहा, ''वाह, बहुत अच्छा! कभी लाल, तो कभी सफेद! अच्छा है। क्या कहते हो?''

१९०० ई. के १२ जून को केदारनाथ फिर वाराणसी लौट आये। सब लोग उन्हें पाकर बड़े आनन्दित हुए –

१. उन दिनों अवध रेलवे थी। तब भी कलकत्ते से लगातार देहरादून तक की रेल नहीं बनी थी।

उनकी युवा-मण्डली की खुशी का तो कहना ही क्या था ! इधर उनके मित्र यामिनी तथा चारुचन्द्र के उत्साह से वाराणसी में एक सेवा-केन्द्र गठित हो चुका था ।

काशी में उन दिनों धर्मशाला चलानेवाले पण्डे तीर्थयात्रियों के प्रति बड़ा ही निर्दय व्यवहार करते थे । जब तक किसी के पास सामर्थ्य तथा धन रहता, तब तक तो वे उसे अपने धर्मशाले में रखकर उसका खूब आदर-यत्न करते; परन्तु ज्योंही कोई विद्यार्थी या तीर्थयात्री बीमार हो जाता, त्योंही पण्डे लोग उस रोगी के रुपये-पैसे सब छीनकर बिल्कुल अकिंचन करके उसे रास्ते पर डाल देते । काशी आनेवाले तीर्थयात्रियों में अधिकांशत: वृद्ध-वृद्धाएँ ही हुआ करती थीं । अत: इन असहाय रोगियों की मार्मिक अवस्था का सहज ही अनुमान किया जा सकता है । उन दिनों काशी के रास्तों तथा घाटों पर ऐसे हृदय-विदारक दृश्य प्राय: ही देखने में आ जाते थे । कोई एक बूँद पानी के लिये या थोड़े से पथ्य के लिये सड़क पर पड़ा हुआ आर्तनाद करता रहता था या कोई मृत्यु का वरण करने को बाध्य होता था ।

कोई दीन-दुखी या आर्त-पीड़ित कहीं असहाय पड़ा है – यह सुनते ही केदारनाथ तथा उनके सहयोगी मित्र दौड़कर जाते और उसकी सेवा में जुट जाते । सबके अनजाने ही इसके लिये एक संगठन बनता जा रहा था और इसका प्रधान कार्यालय केदारनाथ का वह ग्रन्थालय-कक्ष ही था । इस संगठन के तीन मुख्य कार्य थे – पहला था, नियमित रूप से स्वामीजी की ग्रन्थावली से पाठ तथा उस पर चर्चा करना और ध्यान-धारणा की सहायता से सेवा के मूल आदर्श को अपने-अपने जीवन में उद्दीप्त रखना; दूसरा था, नर के भीतर नारायण विराजमान हैं, इस तत्त्व का जीवन में रूपायन अर्थात् नररूपी नारायण की सेवा में अपने आपको पूरी तौर से समर्पित कर देना; और तीसरा था, स्वामीजी द्वारा उपदिष्ट सेवा के इस आदर्श का प्रचार करना और उसे क्रियान्वित करने हेतु जन-साधारण से धन तथा सहानुभूति की भिक्षा माँगना ।

इन लोगों की सेवा-समिति प्रारम्भ में 'होम ऑफ रिलीफ' (राहत आश्रम) नाम से ही परिचित थी, परन्तु बाद में धीरे-धीरे संगठित होने के बाद उसका नाम हुआ 'पुअर मेन्स रिलीफ एसोशिएसन' (अनाथाश्रम या निर्धन परित्राण समिति) । १९०० ई. के सितम्बर से समिति के लिये डी ३२/८२ नं. जंगमबाड़ी में ५ रुपये मासिक पर तीन कमरे किराये पर लिये गये । अब से अनाथाश्रम का कार्यालय, होम्योपैथी चिकित्सालय, रोगियों के लिये सेवायतन आदि सब कुछ इन्हीं कमरों से परिचालित होने लगा । यही अंकुर आगे चलकर वाराणसी के सुप्रसिद्ध रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम रूपी विशाल वृक्ष में परिणत हुआ था । केदारनाथ के ग्रन्थालय में जो बीज बोया गया था, वही क्रमश: अंकुरित तथा पल्लवित होकर अपनी शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार करता हुआ काशी के सेवाश्रम (होम ऑफ सर्विस) में परिणत हुआ ।

इस दौरान केदारनाथ के घर में कुछ दिनों से अशान्ति के काले बादल उमड़-घुमड़ रहे थे । वैसे इन्होंने ही केदारनाथ के जीवन में वैराग्य की प्रचण्ड वर्षा ला दी थी । एक दिन उन्होंने घर में आकर सुना कि वृद्ध पितामह के पूजा के आसन पर दीपक जलानेवाला कोई नहीं था और इसी को बहाना बनाकर उनके एक चचेरे भाई ने आसमान सिर पर उठा रखा था । केदारनाथ की घर-गृहस्थी के प्रति उदासीनता, अनाथाश्रम के कार्य में योगदान और ध्यान-भजन में समय बिताना – घर के लोगों की आँखों में काँटे की भाँति चुभ रहा था । उनके चचेरे भाई ने घर में हंगामा खड़ा करके उनकी सौतेली माँ की सहायता से उनके पिता को भी खूब भड़का दिया था । उस दिन पिता ने पुत्र को स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि घर में रहकर ऐसा चाल-चलन नहीं सहा जायगा; यदि ऐसा ही करना हो, तो घर छोड़ना पड़ेगा । केदारनाथ ने अविलम्ब दीवार पर से श्रीरामकृष्ण का वह चित्र उतारा और उसे साथ लेकर निकल पड़े । उस रात वे और कहाँ जाते, मित्र चारुचन्द्र के घर पर ही जाकर ठहर गये । इस प्रकार केदारनाथ ने संसार से चिर काल के लिये विदा ले ली । परवर्ती काल में वे कहा करते थे, ''सोचा था कि मैं साधु नहीं हो सकूँगा । अविवाहित रहकर स्वाधीन रूप से संसार में रहते हुए सच्चर्चा करते हुए जीवन बिता दूँगा । परन्तु मेरे सोचने से क्या होता है? ठाकुर ने मुझे एक ऐसी परिस्थिति में डाल दिया कि मुझे बाध्य होकर संसार के बाहर निकल आना पड़ा । वस्तुत: यदि इस तरह की घटना न होती, तो कदाचित् मेरे भाग्य में स्वामीजी महाराज की कृपा-प्राप्ति न हो पाती ।''

इसके बाद केदारनाथ क्षेमेश्वर घाट के एक टूटे हुए शिव-मन्दिर में रहकर साधन-भजन करते हुए निश्चिन्त भाव से अपने दिन बिताने लगे । अपने साथ लाये हुए ठाकुर के चित्र की वहाँ स्थापना करके वे अपने अश्रु-अर्घ्य देकर नित्य पूजा करते, आरती करते और प्रार्थना-भजन आदि करते हुए परम आनन्द में डूब जाते । इसके अतिरिक्त वे नियमित रूप से अनाथाश्रम में जाकर अपने मित्रों की सहायता करते । तब तक उन लोगों के पास पैसे देकर कर्मचारी रखने की सामर्थ्य न थी । वे लोग स्वयं ही रोगियों का मलमूत्र साफ करते, पथ्य बनाते और दवा का भी सेवन कराते । ❖ **(क्रमश:)** ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (१४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

आसक्ति व्यक्तिगत कैसे होती है और उससे हमें कष्ट कैसा होता है। आइये इसका एक उदाहरण देखें।

मान लीजिए किसी बैंक में आपका खाता है। आपको पता लगा कि उस बैंक में भीषण आग लगी है। तो तुरन्त आपको लगा कि उस बैंक में आपका लॉकर है और उसमें जो कुछ है, उसे आपको और भगवान को छोड़कर कोई भी नहीं जानता है। भगवान को न तो दु:ख होता है न सुख होता है। लेकिन आपका लॉकर है, उसकी आपको चिन्ता है। बैंक में आग बुझाने का प्रयत्न चल रहा है। आग बुझ गयी। अब लॉकर डिपार्टमेंट का जो आदमी है, उससे आप पूछते हैं, भाई लॉकर भी जल गया है क्या? वह कहता है, हाँ १ से ५० नम्बर तक के लॉकर जल गये हैं। आपके लॉकर का नम्बर ५६ है। अब आप खुश हो गये कि आप बच गये हैं। आपका बाकी के लॉकर से क्या लेना-देना था। इसलिए उसके बारे में दुख नहीं हुआ। आपका मन ५६वें नम्बर के लॉकर से जुड़ा हुआ है, चिपका है। आप सन्तुष्ट हैं कि आपका लॉकर सुरक्षित है। उस बैंक के हजारों लॉकर सुरक्षित हों और आपका ५६ नम्बर का लॉकर जल जाये या चोरी हो जाये, तो ऐसा दु:ख होगा मानो आपका हृदय ही जल गया हो। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि मनसे हमने इंद्रियों को वश में नहीं किया और अनासक्ति के बदले आसक्ति में फँसे रहे।

हमें सुख और दुख, राग और द्वेष के कारण होते हैं। राग होता है चिपक जाने से, आसक्त होने से। जीवन में जहाँ आसक्ति है, वहाँ दु:ख होगा ही।

हमें गीता-उपनिषद् को शब्दश: पढ़ते हुये उनकी विशेषताओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

भगवान कहते हैं कैसे तुम कर्म कर सकोगे? कर्मयोग कैसे हो? – **कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् असक्तः स विशिष्यते।**

जब व्यक्ति उपरोक्त शर्तों को पूरी करके कर्म करता है, तो वह कर्मयोग बन जाता है और वही व्यक्ति श्रेष्ठ कर्मयोगी बन जाता है।

अब सबके मन में ये प्रश्न आता है कि काम करना अच्छा है या बुरा है? कुछ लोग कहते हैं, क्या बतायें महाराज, हम साधना करना चाहते हैं, किन्तु नौकरी करनी पड़ती है। बैंक में जाना पड़ता है। वहाँ सुबह ९ से शाम ९ बजे तक दिनभर कैश का काम करना पड़ता है। इसलिए हम साधना नहीं कर सकते।

मान लीजिये कोई प्रोफेसर हैं। वे दिन में सिर्फ दो घंटा पढ़ाते हैं। बाकी समय खाली हैं, तो वे साधन-भजन कर सकते हैं। किन्तु हम कुछ करने को तत्पर नहीं हैं। आलस्य और तामसिकता से आवृत्त हैं। किन्तु समय न मिलने का बहाना बनाकर मन हमको छलता रहता है। इसलिये भगवान हमसे कर्म बदलने को कभी नहीं कहते। भगवान १८ वें अध्याय में कहते हैं – **स्वे-स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः** – अपने-अपने कर्म में लगा हुआ व्यक्ति सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। आगे भगवान कहते हैं –

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।। (३.८)

हे अर्जुन, जो तेरा नियत कर्म है, जो तेरे लिए निर्धारित किया गया है, उस कर्म को करो। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। क्यों श्रेष्ठ है? क्योंकि शरीर के निर्वहन के लिये तो तुम्हें काम करना ही होगा। अगर तुम काम नहीं करोगे, तो आलस में पड़े रहोगे। ऐसा करने से तेरी शरीर-यात्रा – खाना-पीना, सोना-जगना आदि कैसे चलेगी? संपत्ति आदि की देखभाल तो करना ही पड़ेगा। इसलिये भगवान कह रहे हैं कि तेरी शरीर-यात्रा के लिये भी कर्म करना आवश्यक है। तू यदि अकर्मण्य हो जायेगा, तो तेरी शरीर यात्रा भी नहीं चलेगी। हम वेदान्त की दृष्टि से या ईश्वर पर विश्वास रखकर या भक्ति-वेदान्त पर विश्वास कर जीवन में जो भी कर्म करते हैं, वे सभी कर्म प्रारब्ध के फलस्वरूप या ईश्वर की कृपा से हमारे जीवन में आते हैं।वे ही कर्म नियत कर्म हैं। हमारे जीवन में आये हुए अयाचित कर्म ही हमारा धर्म है।

गीता में स्वधर्म की बात आती है, जो गीता का अपना शब्द है और वह विश्व को हिन्दुधर्म की बहुत बड़ी देन है। महत्त्व कर्म का नहीं, महत्त्व कर्ता का है। कर्म कुछ भी हो, कर्ता के द्वारा किस भावना से किया गया है, वह महत्वपूर्ण है। अब किसी की हत्या करना तो बहुत बुरा काम है। अपने सम्बन्धियों की हत्या करना तो और भी बुरी बात है और वह भी ऐसे समय में जब उस सम्बन्धी की परम आवश्यकता है, जीवन-मरण का प्रश्न है और वह सम्बन्धी हमारी सहायता के लिये आया है। उस समय अगर हम उसकी हत्या कर दें, तो कितना बड़ा पाप होगा! इससे अधिक जटिल प्रश्न आपके और हमारे जीवन में आ नहीं सकता। महाभारत का एक उदाहरण देखें, उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह नियत कर्म

क्या है? और नियत कर्म करने वाले, व्यक्ति को न पाप लगता है, और न ही पुण्य मिलता है।

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने वाला है। दोनों सेनायें कुरुक्षेत्र में आमने-सामने हैं। केवल सेनापतियों के आदेश की प्रतीक्षा है। ऐसे समय में पाण्डवों के सामने एक युवक आया। सामान्य व्यक्तियों की तुलना में उसका शरीर अति विशाल और भंयकर था। वह चमड़े का वस्त्र पहना हुआ था। विशाल धनुष उसके हाथ में था। अन्य हथियार कमर में लटक रहे थे। ऐसा भयंकर पुरुष पांडवों के सामने आया। उसने आकर सभी को प्रणाम किया। सब लोगों ने उसे आशीर्वाद दिया। उसने अपने तात और ताऊ को अपना परिचय दिया, तो वे लोग और भी प्रसन्न हुए कि यह तो हमारे परिवार का व्यक्ति है, हमारा भतीजा है। वह था घटोत्कच का पुत्र बर्बरीक।

जब वह छोटा था, तब से वह दक्षिण देश में तपस्या करने के लिये चला गया था। घोर तप करके उसने बहुत सी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थी। उसके दादा पिता के पिता भीमसेन थे। वह उन सबसे कहता है, मेरे रहते हुए आप लोगों को कष्ट करने की क्या आवश्यता है? मैंने इतने वर्षों तक तपस्या की है। मुझे इतनी शक्तियाँ प्राप्त हैं कि मैं अकेले ही इन कौरवों के सभी रथी, महारथी, सेनापतियों को तत्काल समाप्त कर सकता हूँ। कैसे? उसने अपने तर्कश से बाण निकाला, जिसमें लोहे का फाल सामने नहीं था, वह केवल बाँस की पुँगली थी। दूसरी ओर से उसने एक चूर्ण निकाली तथा उसे पूँगली में भर दिया तथा अभिमंत्रित किया और उसने वह बाण धनुष पर रखकर चला दिया। उससे धूल का बादल पूरी कौरवों के सेना के ऊपर छा गया। और हजारों व्यक्तियों के मस्तक पर धूलि के कण गिरे। उसके बाद बर्बरीक ने कहा – अब दूसरा बाण चलाऊँगा, तो जिन-जिन के सिर पर ये निशान लगे हुए हैं, उन सभी के सिर मेरे इस एक बाण से ही कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ेंगे। लाखों लोग मेरे एक बाण से ही मर जायेंगे। ऐसा कहकर उसने धनुष पर बाण चढ़ाया और प्रत्यंचा खिचने वाला ही था कि उसके पूर्व ही भगवान कृष्ण ने अपने चक्र का स्मरण किया और क्षणमात्र में उसका सिर धड़ से अलग हो गया। सभी दुखी हुए। भीम को विशेष दुख हुआ, क्योंकि उनका पौत्र मारा गया। युद्ध होने में थोड़ी देर थी। साहस करके भीम ने कृष्ण से पूछा कि आपने ऐसा क्यों किया? श्रीकृष्ण ने कहा – जो व्यक्ति अपनी छूरी से शत्रु का गला काट सकता है, यदि वह व्यक्ति दुष्ट है तो वह उसी छुरी से मेरा गला भी काट सकता है। आप लोग यह क्यों भूल गये कि वह राक्षस का पुत्र था। घटोत्कच स्वयं राक्षस था, जो वेद और धर्म विरोधी था। वह दुर्योधन की वृत्ति का था। यद्यपि वह हमारे दल के साथ लड़ने आया था। किन्तु कौरवों की पराजय या हमारी जय के पश्चात् इस बात का क्या आश्वासन था कि वह हम लोगों का विनाश न करता? इसलिए धर्म की रक्षा के लिये मुझे उसे मारना आवश्यक था।

भगवान ने बर्बरीक की अंतिम इच्छा भी पूर्ण की थी। बर्बरीक की इच्छा युद्ध देखने की थी। भगवान ने उसका सिर जीवित कर दिया था। उसे एक बहुत ऊँचे पेड़ पर रख दिया और कहा कि तू यह संपूर्ण युद्ध देख सकेगा। उसके शरीर का दाह संस्कार कर दिया गया।

इन कथाओं के गंभीर तात्पर्य हैं। भगवान कृष्ण के मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। क्योंकि वे अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों से कर्म कर रहे थे। उनका कर्म योग था।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – Never react, always act. – प्रतिक्रिया मत करो, सदा कर्म करते रहो। भगवान ने देखा था कि बर्बरीक के रहने पर धर्मस्थापना में बाधा पड़ेगी। वह अधर्म का प्रतिनिधित्त्व करता है, इसलिए उसका सिर काट दिया। अब भगवान के लिये यह सहज कर्म है। हमारे लिये सहज है, जो नियत कर्म है उसे करना।

जीवन में कर्म बदलने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है भाव बदलने की। भगवान श्रीकृष्ण चौथे अध्याय में घोषणा करते हैं, **'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'** – मैं धर्म की स्थापना करने के लिये युग-युग में अवतार लेता हूँ। बर्बरीक का वध धर्म की स्थापना थी। बर्बरीक की सहायता लेकर उससे युद्ध करवाना मानो एक-दूसरे दुष्ट को सहयोग देना होता। वैसे अधर्मी घटोत्कच को भी भगवान ने मरवा दिया। घटोत्कच भी जब आधी रात को मरा, तब भगवान कृष्ण ने विजय का पांचजन्य शंख बजाया था। सब लोग उठ गये। भगवान आनन्द से नाच रहे हैं। युधिष्ठिर, भीम सब आ गये। युधिष्ठिर ने सोचा कि कर्ण मारा गया। भगवान ने अर्जुन का आलिंगन किया। भगवान कहते हैं, कर्ण नहीं, घटोत्कच मारा गया, इसलिये मैं प्रसन्न हूँ। सबको लगा कि हमारा इतना पराक्रमी भतीजा कि जिसके गिरने से ही एक अक्षौहिणी सेना मर गयी थी। वह उसी दिन कौरवों को मिट्टी में मिला देने वाला था, और उसके मरने पर कृष्ण प्रसन्न हो रहे हैं! बात यह कि कर्ण के पास भी एक अमोघ शक्ति थी, जिससे कोई नहीं बच सकता था, इसलिए वह शक्ति उसने अर्जुन को मारने के लिये बचा रखी थी। भगवान ने अर्जुन को कभी भी कर्ण के सामने नहीं लाया था। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा कि आप दुखी हैं कि कर्ण के द्वारा मैंने घटोत्कच का वध करवाया। यदि मैं स्वयं घटोत्कच का वध करता, तो क्या आप प्रसन्न होते? घटोत्कच भी राक्षसी वृत्ति का था, इसलिए उसका वध भी आवश्यक था। ❖ **(क्रमशः)** ❖

पुस्तक-समीक्षा

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

प्रश्नोत्तर दीपमाला भाग-३

प्रवचनकार – स्वामी रामानन्दजी सरस्वती जी महाराज
प्रकाशक – श्रीमार्कंडेय संन्यास आश्रम, पब्लिक ट्रस्ट, ओंकारेश्वर, मान्धाता, जिला - खण्डवा, (मध्य प्रदेश)
फोन नं. ७२८०-२७१२६७, मो. ९८२७८१३७११

अनित्य संसार के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने वाले जिज्ञासू-साधकों के परम कल्याण हेतु ब्रह्मज्ञ ब्रह्मवेत्ता सन्त स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज के मुखारविन्द से नि:सृत अमृतमयी तत्त्व वाणी का 'प्रश्नोत्तर दीपमाला' भाग-१ और २ का प्रकाशन मार्कण्डेय आश्रम के द्वारा किया गया है, जिसकी समीक्षा यथासमय 'विवेक-ज्योति' के दो अंकों में प्रकाशित की गयी थी। अब पाठकों द्वारा प्रतिक्षित एवं उसी आश्रम द्वारा सद्य: प्रकाशित प्रश्नोत्तर दीपमाला, भाग-३ की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

महाराज जी की पुस्तकें मेरे जैसे व्यक्ति की समीक्षा की अपेक्षा नहीं रखतीं, वे स्वयं ही महान हैं। इसलिये उनमें प्रतिपादित कुछ विषयों की झलकियाँ यहाँ पाठकों के समक्ष दी जा रही हैं, जिससे पाठक जीवन में सहायक इस ग्रन्थ की उपयोगिता को समझ सकें तथा उसका अध्ययन कर उसमें संन्निहित शाश्वत संदेशों का अपने जीवन में पालन कर अपने जीवन को धन्य बना सकें।

प्रश्नोत्तर दीपमाला, भाग-३ की सम्पूर्ण विषय-वस्तु – कर्म-सिद्धान्त, भक्ति-उपासना, ज्ञान-चर्चा, वेदान्त, मंत्र-विचार आदि २४ विभिन्न शीर्षकों में विभक्त है। उन अध्यायों में तद्विषक विषय-वस्तु का सम्यक् प्रतिपादन सरल सहज भाषा में किया गया है। विषय को स्पष्ट समझाने हेतु कई स्थानों पर व्यावहारिक और शास्त्रीय दृष्टान्त भी दिये गये हैं।

किसी साधक ने प्रश्न किया कि जीवन में निष्कामता कैसे आयेगी? इसके उत्तर में महाराजजी ने कहा कि कोई भी चीज क्रमिक होती है। आप कहो कि पहले चित्त शुद्ध होकर निष्काम हो जायेगा, तब निष्काम कर्म करेंगे। ऐसी बात नहीं है। कर्तव्य को प्रधान बनाकर कर्म करने से निष्कामता शुरू हो जाती है और चित्त शुद्ध होते-होते जब कर्तव्य पूर्णत: ईश्वर से सम्बन्धित हो जाता है, तब निष्कामता पूरी हो जाती है।

पाप-पुण्य और कर्म-दोष के सम्बन्ध में महाराज जी कहते हैं कि दृष्टि के अनुसार पाप-पुण्य में, कर्म-दोष आदि में बहुत अन्तर पड़ जाता है। यदि आप एक व्यक्ति का घर उजाड़ देंगे, तो आपको दोष लगेगा, परन्तु जब सरकार बाँध बनाती है, तो हजारों लोगों का घर उजाड़ देती है, पर उसे कोई दोष नहीं लगता। क्योंकि उसकी दृष्टि किसी को उजाड़ने की नहीं है। वहाँ तो दृष्टि व्यापक कल्याण की है। जब तक व्यक्ति स्वार्थप्रधान रहता है, तब तक कर्म से दोष होता है, परन्तु कर्तव्य-प्रधान होने पर वह दोष नहीं आता।

किसी जिज्ञासू ने महाराज जी से पूछा कि सामुहिक प्रार्थना या मन्त्रोच्चार में भाव की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। यह कैसे उत्पन्न हो?

महाराजजी कहते हैं – चाहे समूह हो या एकान्त, भाव तो एक ऐसी वस्तु है, जो वहाँ उत्पन्न होती है, जहाँ आपका राग है, जिसका महत्व आपके चित्त में बैठा है। आपका कोई प्रिय व्यक्ति आये, तो आप उससे बात करने के लिये कितने सावधान हो जाते हैं और भगवान के सामने बैठकर मनोराज्य करते हैं। अर्थात् अभी चित्त में जगत की अपेक्षा भगवान का महत्व कम बैठा है। जिस दिन बुद्धि में यह निश्चय हो जायेगा कि एक दिन इस जगत के बिना ही हमको काम चलाना होगा, तब हमारा साथी भगवान ही होगा, उसी दिन से भगवान का महत्व बुद्धि में बैठ जायेगा। तब भाव को उत्पन्न करने के लिये किसी अन्य प्रयास की आवश्यकता नहीं रहेगी। मैं बार-बार कहता हूँ कि जगत के विषयों में तुमको रस मिल रहा है, उससे अधिक रस जब भगवन्नाम-जप में मिलेगा, तभी तुम्हारे जगत के संस्कार दूर होंगे। उस दिन जगत का महत्व दूर हो जायेगा और भगवान का ही महत्व जीवन में रह जायेगा, तब जगत में कहीं भी रहते हुए, भगवान के प्रति भाव बना रहेगा।

इष्ट किसे कहते हैं? और उसकी प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये? महाराज जी – जो अत्यन्त चाह का विषय हो, जिसको जीवन में सब कुछ मान लिया हो, उसे इष्ट कहते हैं। सच्चा इष्ट परमेश्वर ही हो सकता है। इसलिये उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

किस प्रकार से भजन करें कि ईश्वर के नजदीक रहें?

महाराज जी – तुम जप, ध्यान, स्तोत्रपाठ, देव-पूजन किसी भी प्रकार से ईश्वर का भजन कर सकते हो। जिसमें तुम्हारी श्रद्धा हो, मन लगता हो, उस प्रकार से भजन करो। पर दो बातें समझकर रखना – ईश्वर का भजन, ईश्वर के लिये करोगे, तो ईश्वर के पास रहोगे और यदि ईश्वर का भजन जगत के लिये करोगे, तो जगत के नजदीक रहोगे।

भगवान की अनन्य भक्ति में सबसे बड़ी बाधा कामना है, यह ज्ञानी, भक्त, कर्मयोगी कुछ भी नहीं बनने देती। कामना के रहते अनन्यता से साधना नहीं हो सकती। समस्या आने पर भगवान के चरणों में समर्पित कर दो। भगवान से कोई कामना मत करो। केवल भगवान के लिये ही भजन करो। ऐसे भक्तों की जिम्मेदारी भगवान को लेनी पड़ती है।

परमात्मा के प्रभाव और स्वभाव इन दो चीजों का श्रवण और गान करना चाहिये। साधक का सबसे बड़ा शत्रु आलस्य और प्रमाद है।

कार्यालय में कार्य करते हुये भगवान को कैसे याद रखें?

महाराज जी उत्तर देते हैं – ''जैसे ऑफिस में कार्य करते समय बीमार बच्चे और पत्नी की याद आती है, क्योंकि उनसे तुम्हारा गहरा लगाव है। उसी प्रकार भगवान से तुम्हारा सनातन सम्बन्ध है। यह शरीर, आँख, बुद्धि सबने उन्होंने ही बनाकर दिया है। इन्हीं को लेकर ही तुम कार्यालय में और बाहर भी अपना कार्य करने में सक्षम हो रहे हो। पिछले जन्मों में तुम्हारे शरीर की रचना उन्होंने ही की थी और आगे भी वही करेगें, तुम्हारे प्राणों को भी वही चला रहे हैं और प्रतिक्षण तुम्हें चेतनता प्रदान कर रहे हैं। भगवान से बड़ा हमारा सम्बन्धी और कौन हो सकता है। पर माया इसे भुला देती है। तुम इस बात को मन में बैठाओ कि जगत से हमारा सम्बन्ध केवल व्यवहार के लिये है। हमारा पारमार्थिक सम्बन्ध तो परमेश्वर ही है। इस बात को मन में मजबूत करोगे, तो कार्यालय में भी उनकी याद बनी रहेगी।''

पूज्य महाराज जी एक प्रसंग में कहते हैं कि साधु हो या गृहस्थ, यदि परमात्मा के प्रति सच्ची आस्था है, तो वह किसी-न-किसी रूप में उसे प्रेरणा देता ही है। क्योंकि वह तो हृदय में रहता है, कहीं दूर नहीं। इसी सन्दर्भ में महाराज जी ने अपने नर्मदा किनारे किसी अज्ञात अदृश्य माता जी के थप्पड़ मारने की घटना सुनायी है, जो घटना भक्तों के परमात्मा के प्रति विश्वास में वर्धन करेगी।

घर में सुख-शान्ति कैसे रहे, संयुक्त परिवार में कैसे रहें, आदि की कला भी महाराज जी ने इस पुस्तक में बतायी है।

विद्या की प्राप्ति कैसे करें? इसके उत्तर में महाराज जी कहते हैं – विद्यार्थी को गुरु की सेवा करनी चाहिये। गुरु जो कहें, उसे एकाग्रता पूर्वक सुनना चाहिये। गुरु की आज्ञाओं का पालन कर, उन्हें प्रसन्न करने से गुरु के अन्दर जो मर्म है, वह शिष्य को प्राप्त हो जाता है। जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिये। प्रशंसा से दूर रहना चाहिये। मोह, अहंकार नहीं करना चाहिये और फालतू गप्पें नहीं हाँकना चाहिये। विद्यार्थी का सबसे बड़ा शत्रु है प्रमाद, उसका पूर्णतया त्याग करना चाहिये। इसे दृष्टान्तों से महाराज ने समझाया है।

सदा बालक के समान आनन्द बना रहे, इसके लिये क्या करना चाहिये? महाराज जी कहते हैं कि जैसे बालक माता-पिता के आश्रय में रहता है, उसमें काम, कुटिलता, चिन्ता आदि विकार नहीं होते। आप भी सभी विकारों को छोड़कर भगवान को माता-पिता मान लो, तो तुम भी आनन्द में रहोगे। सदा सर्वदा भगवान हमारे ऊपर कृपा कर रहे हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

युक्ति से मुक्ति की भी रोचक घटना का उल्लेख महाराज जी ने किया है। पुस्तक की समाप्ति भारतवासियों के स्वाभिमान का जागरण कैसे हो, इससे होती है। महाराज जी स्वाभिमान के जागरण के सम्बन्ध में अपना सुझाव देते हैं कि पहले जीवन का निर्माण करो, उससे जागरण होगा। जीवन का प्रचार जीवन से होता है, भाषण से नहीं। व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है। अत: व्यक्ति का जीवन-निर्माण ठीक-ठीक होना चाहिये।

पुस्तक के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में कुछ शास्त्रों के उद्धरण दिये गये हैं, जो आध्यात्मिक जीवन में सहायक हैं। आवरण-पृष्ण के द्वितीय पृष्ठ पर स्वामी रामानन्दजी महाराज का भव्य चित्र दिया गया है। महाराज जी के चित्र के पीछे शिवलिंग जैसा हरा-भरा ऊँचा पर्बत है। मानो यह पहाड़ महाराज जी की परमात्मा में अचल अटल, दृढ़ विश्वास का संदेश दे रहा है। आवरण-पृष्ठ के अंतिम पृष्ठ में लाल-नीलिमा लिये समुद्र से सूर्य का दर्शन हो रहा है। जैसे परिपूर्ण भक्ति से ज्ञान का उद्‌गम हो रहा है और उस ज्ञान-प्रभा से सारा जगत आलोकित हो रहा है।

ऐसे लोकोपकारक ग्रन्थ के प्रकाशक एवं सहयोगी महात्माओं के इस स्तुत्य कार्य के प्रति बरबश श्रद्धा का उदय हो जाता है। मैं भगवान से सबके श्रेय-प्राप्ति की प्रार्थना करता हूँ। हरि ॐ!

पृष्ठ ७५ का शेषांश

दुष्यन्त – ''मैं जानता हूँ कि कुमार मेरा ही पुत्र है, पर यदि मैं उसे सहसा ग्रहण कर लेता, तो तुम्हीं लोग मुझे दोषी कहते और पुत्र पर भी कलंक रह जाता। उसकी शुद्धता सिद्ध करने हेतु ही मैं शकुन्तला के साथ विवाद कर रहा था।''

इतना कहकर महाराजा दुष्यन्त ने सर्वदमन को अपनी गोद में उठा लिया और उसके मस्तक को चूमकर अपने वात्सल्य को अभिव्यक्ति दी। ब्राह्मणों ने आशीर्वाद की वर्षा की और चारणगण स्तुतियाँ गाने लगे।

चूँकि राजा सबके अनुरोध पर सर्वदमन का भरण-पोषण करने को राजी हुए थे, अत: उन्होंने उसका नाम रखा भरत।

इसके बाद उन्होंने धैर्यशालिनी शकुन्तला का यथोचित समादरपूर्वक सान्त्वना देते हुए कहा, ''प्रिये! मैंने निर्जन वन में तुम्हारे साथ विवाह किया था। यह बात किसी को विदित नहीं थी। बाद में कहीं लोग तुम्हें कुलटा, मुझे कामान्ध और हमारे पुत्र को जारज न समझें, इसी कारण मैंने तुम्हारे साथ वैसा आचरण किया था। तुमने क्रुद्ध होकर मेरे प्रति जो खरी-खोटी बातें कहीं, उनके लिये मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। हमारे भरत को शीघ्र ही युवराज के पद पर अभिषिक्त किया जायगा – इस विषय में तुम निश्चिन्त रहो।

इन भरत से ही भारती की कीर्ति हुई और सुविख्यात भारत-वंश की स्थापना हुई और हम लोगों के इस देश को भारतवर्ष का नाम मिला है। **(आदिपर्व २९/१५-२३)**

कठोपनिषद्-भाष्य (२६)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

आत्मनः स्वरूप-अधिगमे लिङ्गम् उच्यते –

आत्मा के स्वरूप की धारणा कराने के लिये उसके लक्षण बताये जा रहे हैं –

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ २/२/३

अन्वयार्थ – जो आत्मा **प्राणम्** प्राणवायु को **ऊर्ध्वम्** ऊपर की ओर **उन्नयति** संचालित करती है, **अपानम्** अपान-वायु को **प्रत्यक् अस्यति** नीचे की ओर ढकेलती है, (उसी) **मध्ये** हृदय-कमल में **आसीनम्** स्थित **वामनम्** भजन करने योग्य आत्मा की **विश्वे** समस्त **देवाः** देवता या इन्द्रियाँ (रूप आदि के बोधरूप से) **उपासते** उपासना करती हैं।

भावार्थ–जो प्राणवायु को ऊपर की ओर संचालित करती है और अपान-वायु को नीचे की ओर ढकेलती है, हृदय-कमल में स्थित (उस) भजने योग्य आत्मा की सभी देवता या इन्द्रियाँ (रूप आदि के बोधरूप से) उपासना करती हैं।

भाष्यम् – ऊर्ध्वं हृदयात् प्राणं प्राणवृत्तिं वायुम् उन्नयति ऊर्ध्वं गमयति । तथा अपानं प्रत्यक्-अधो-अस्यति क्षिपति यः इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदय-पुण्डरीक-आकाशे आसीनं बुद्धौ अभिव्यक्त-विज्ञान-प्रकाशनं वामनं संभजनीयं सर्वे विश्वे देवाः चक्षुः आदयः प्राणा रूप-आदि-विज्ञानं बलिम् उपाहरन्तो विश इव राजानम् उपासते तादर्थ्येन अनुपरत-व्यापारा भवन्ति इत्यर्थः ।

भाष्य-अनुवाद – इसमें यः (जो) जोड़ना होगा। जो हृदय से प्राणवृत्ति रूपी वायु (निःश्वास) को ऊपर की ओर ले जाता है; (और) वैसे ही अपान वायु (प्रश्वास) को भीतर की ओर खींचता है, वह पूजनीय वामन हृदय-कमल के आकाश (गुहा) में आसीन है और बुद्धि में प्रकाशित ज्ञान के रूप में प्रकट हो रहा है। सभी चक्षु आदि इन्द्रियाँ उसकी राजा के समान उपासना करती हैं अर्थात् रूप आदि के बोध-रूपी बलि का उपहार उनके समक्ष ले जाती हैं। तात्पर्य यह कि वे कभी उसके लिये किया जानेवाला कार्य बन्द नहीं करतीं।

यदर्था यत् प्रयुक्ताः च सर्वे वायु-करण-व्यापाराः सः अन्यः सिद्धः इति वाक्यार्थः ।। २/२/३ (८९)

तात्पर्य यह कि जिसके द्वारा नियुक्त होकर ये सारे प्राणवायु तथा इन्द्रियों के कार्य होते हैं, वह इनसे पृथक् सिद्ध होता है।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ।।
एतद्वै तत् ।। २/२/४।। (९०)

अन्वयार्थ – **अस्य** इस **शरीरस्थस्य** शरीर में स्थित **देहिनः** देह का स्वामी (आत्मा) **विस्रंसमानस्य** सम्पर्करहित हो जाने पर (अर्थात्) **देहात्** देह से **विमुच्यमानस्य** मुक्त हो जाने पर **अत्र** इस देह में **किम्** क्या **परिशिष्यते** बचा रह जाता है? (अर्थात् कुछ भी नहीं)। **एतत् वै तत्** यही वह आत्मा है।

भावार्थ – इस देह में स्थित इसके स्वामी (आत्मा) के पृथक् हो जाने अर्थात् देह से मुक्त हो जाने पर इस देह में क्या रह जाता है? (अर्थात् कुछ भी नहीं)। यही वह आत्मा है।

भाष्यम् – अस्य शरीरस्थस्य आत्मनः विस्रंसमानस्य अवस्रंसमान्य भ्रंशमानस्य देहिनः देहवतः; विस्रंसन शब्दार्थम् आह – देहात् विमुच्यमानस्य इति किम् अत्र परिशिष्यते प्राण-आदि-कलापे? न किञ्चन परिशिष्यते अत्र देहे । पुरस्वामि-विद्रवणे इव पुरवासिनां यस्य आत्मनः उपगमे क्षणमात्रात् कार्य-करण कलाप-रूपं सर्वम् इदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सः अन्यः सिद्धः ।। २/२/४ (९०)

भाष्य-अनुवाद – शरीर में निवास करनेवाली इस आत्मा के देह से निकलने (पृथक हो जाने) पर प्राणों आदि के समूह में क्या रह जाता है? शरीर में कुछ भी नहीं रह जाता। जैसे राजा के चले जाने के बाद नगरवासियों की जो अवस्था होती है, वैसे ही आत्मा के निकल जाने पर क्षणमात्र में देह तथा इन्द्रियों के सारे कार्य-कलाप बलहीन होकर ध्वस्त हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, वह (आत्मा) इनसे भिन्न सिद्ध होती है।

* * *

भाष्यम् – स्यात् मतं प्राण-अपान-आदि-अपगमात् एव इदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्त-आत्मा-अपगमात्; प्राण-आदिभिः एव हि मर्त्यो जीवति । इति न एतत् अस्ति –

यदि कोई ऐसा सोचे कि प्राण-अपान आदि के चले जाने से ही यह (शरीर) नष्ट हो जाता है, न कि उससे पृथक् आत्मा के जाने से, क्योंकि प्राण आदि के द्वारा ही मनुष्य जीवित रहता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है –

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।२/२/५

अन्वयार्थ – **कः चन** कोई भी **मर्त्यः** प्राणी **न प्राणेन** न तो प्राण से **जीवति** जीता है (और) **न अपानेन** न अपान से; **तु** अपितु **यस्मिन्** जिसमें **एतौ** ये दोनों (प्राण-अपान) **उपाश्रितौ** आश्रय पाये हुए हैं, (उस) **इतरेण** अन्य (अर्थात् आत्मा) के द्वारा **जीवन्ति** जीवित रहते हैं।

भावार्थ – कोई भी प्राणी न तो प्राण से जीता है (और) न अपान से; अपितु जिसमें ये दोनों (प्राण-अपान) आश्रय पाये हुए हैं, (उस) अन्य (अर्थात् आत्मा) के द्वारा जीवित रहते हैं।

भाष्यम् – न प्राणेन नापानेन चक्षुः आदिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान् कश्चन जीवति न को अपि जीवति, न हि एषां परार्थानां संहति-अकारित्वात् जीवन-हेतुत्वम् उपपद्यते। स्वार्थेन असंहतेन परेण केनचित्, अप्रयुक्तं संहतानाम् अवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके; तथा प्राणादीनाम् अपि संहतत्वात् भवितुम् अर्हति ।

भाष्य-अनुवाद – देहधारी मरणशील मनुष्य – न तो प्राण (निःश्वास) से जीता है, न अपान (प्रश्वास) से और न नेत्र आदि (इन्द्रियों) से। चूँकि ये एक साथ मिलकर किसी अन्य के लिये काम करती हैं, अतः ये जीवन का कारण नहीं हो सकतीं। किसी भिन्न सत्ता (चेतन) के हेतु तथा जुड़ाव के बिना, संसार में घर आदि संहत (संयोजित) पदार्थों का अस्तित्व देखने में नहीं आता; प्राणों आदि के एक संघात (संयोजन) होने के कारण उनके विषय में भी ऐसा ही है।

अतः इतरेण एव संहत-प्राणादि-विलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति । यस्मिन् संहत-विलक्षण आत्मनि सति परस्मिन् एतौ प्राण-अपानौ चक्षुः आदिभिः संहतौ उपाश्रितौ, यस्य असंहतस्य अर्थे प्राण-अपान-आदिः स्वव्यापारं कुर्वन् वर्तते संहतः सन्, सः ततः अन्यः सिद्धः इति अभिप्रायः ।। २/२/५ (९१) ।।

अतः संहत (एकत्र हुए) प्राण आदि से भिन्न (आत्मा) के द्वारा ही समस्त संयोजित (संहत) पदार्थ जीवित रहते हैं, अर्थात् प्राण धारण करते हैं। ये प्राण-अपान तथा नेत्र आदि संघात अपने से पृथक् – उस सत्स्वरूप, परम आत्मा में ही आश्रित हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस असंहत (आत्मा) के लिये प्राण-अपान आदि अपने-अपने कार्य में लगी रहती हैं, वह (आत्मा) उनसे भिन्न है – यह सिद्ध हो जाता है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।। २/२/६

अन्वयार्थ – **गौतम** हे नचिकेता, **हन्त** अब (मैं) **ते** तुम्हें **इदम्** यह **गुह्यम्** गोपनीय **सनातनम्** चिरन्तन **ब्रह्म** ब्रह्म (के विषय में) **प्रवक्ष्यामि** बताऊँगा, **च** और (यह भी कि उसे जाने बिना) **मरणम्** मृत्यु **प्राप्य** हो जाने के बाद **आत्मा** आत्मा **यथा** जिस प्रकार की **भवति** गति को प्राप्त होती है।

भावार्थ – हे नचिकेता, अब मैं तुम्हें उस गोपनीय चिरन्तन ब्रह्मतत्त्व बताऊँगा और (यह भी कि उसे जाने बिना) मृत्यु हो जाने के बाद आत्मा को किस प्रकार की गति मिलती है।

भाष्यम् – हन्त इदानीं पुनः अपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि यत् विज्ञानात् सर्व-संसार-उपरमो भवति, अविज्ञानात् च यस्य मरणं प्राप्य यथा आत्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम ।। २/२/६ (९२)

भाष्य-अनुवाद – अहो ! अब मैं तुम्हें पुनः गोपनीय चिरन्तन ब्रह्म के विषय में बताऊँगा, जिसे जान लेने पर सम्पूर्ण संसार की समाप्ति हो जाती है; और जिसके न जानने पर मृत्यु के बाद जीवात्मा जिस प्रकार इस संसार में भटकता है, हे गौतम, उसे सुनो।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् । २/२/७

अन्वयार्थ – **अन्ये** कुछ (अविद्याग्रस्त) **देहिनः** देहधारी जीव **यथाकर्म** इस जन्म में किये हुए कर्म के अनुसार (तथा) **यथाश्रुतम्** अर्जित किये हुए ज्ञान या विचारों के अनुसार **शरीरत्वाय** शरीर धारण करने हेतु **योनिम्** मातृगर्भ को **प्रपद्यन्ते** प्राप्त होते हैं; **अन्ये** कुछ अन्य (जीव) **स्थाणुम्** (वृक्ष आदि) स्थावर भाव को **अनुसंयन्ति** प्राप्त होते हैं।

भावार्थ – कुछ (अविद्याग्रस्त) देहधारी जीव, इस जन्म में किये हुए कर्म तथा अर्जित किये हुए ज्ञान या विचारों के अनुसार शरीर धारण करने हेतु मातृगर्भ को प्राप्त होते हैं; कुछ अन्य जीव (वृक्ष आदि) स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं।

भाष्यम् – योनिम् योनिद्वारं शुक्र-बीज-समान्विताः सन्तः अन्ये केचित् अविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनः देहवन्तः योनिं प्रविशन्ति इत्यर्थः ।

भाष्य-अनुवाद – कुछ अज्ञानी मूढ़ (मोहग्रस्त) जीव देह प्राप्त करने हेतु शुक्र-बीज से जुड़कर योनिद्वार पर पहुँचते हैं, अर्थात् किसी योनि में प्रवेश करते हैं।

स्थाणुं वृक्ष-आदि-स्थावर-भावम् अन्ये अत्यन्त-अधमा मरणं प्राप्य अनुसंयन्ति अनुगच्छन्ति ।

कुछ अन्य अत्यन्त अधम जीव मृत्यु के बाद वृक्ष आदि स्थावर (अचर) भाव को प्राप्त होते हैं।

यथाकर्म यत् यस्य कर्म तत् यथाकर्म यैः यादृशं कर्म इह जन्मनि कृतं तत् वशेन इति एतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानम् उपार्जितं तदनुरूपम् एव शरीरं प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः 'यथाप्रज्ञं हि संभवाः' इति श्रुत्यन्तरात् ।। २/२/७ (९३) ।।

जिसका जो कर्म है, अर्थात् इस जन्म में जिसने जैसा कर्म किया है, उस (के फल) से वशीभूत होकर; वैसे ही जिसने

जैसा ज्ञान अर्जित किया है, उसी के अनुसार शरीर प्राप्त करता है, यही तात्पर्य है। एक अन्य श्रुति में भी है – 'जैसा ज्ञान है, वैसा ही जन्म मिलता है'। ❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः ।
यैर्यैर्वृत्तेःसमायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः।।३७०।।

अन्वय – देह-प्राण-इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-आदिभिः यैः यैः उपाधिभिः वृत्तेः समायोगः तत्-तत्-भावः अस्य योगिनः ।

अर्थ – देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उपाधियों की जिस-जिस वृत्ति के साथ इस योगी (साधक) का संयोग होता है, वह उसी-उसी भाव के साथ एकाकार हो जाता है।

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक् सर्वोपरमणं सुखम् ।
संदृश्यते सदानन्दरसानुभवविप्लवः।।३७१।।

अन्वय – तत्-निवृत्त्या मुनेः सम्यक् सर्व-उपरमणं सुखम् संदृश्यते सदा आनन्दरस-अनुभव-विप्लवः ।

अर्थ – (देह, इन्द्रियों आदि उपाधियों से सम्बन्ध की) निवृत्ति के द्वारा, मुनि (मननशील साधक) की सहज भाव से सभी प्रकार के बाह्य विषयों से भलीभाँति उपरति हो जाती है और उसे सदा ब्रह्मानन्द-रस की अनुभूति होती रहती है।

अन्तस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते ।
त्यजत्यन्तर्बहिःसङ्गं विरक्तस्तु मुमुक्षया ।।३७२।।

अन्वय – अन्तस्त्यागः बहिस्त्यागः विरक्तस्य एव युज्यते। विरक्तः तु मुमुक्षया अन्तः बहिः संगं त्यज्यति।

अर्थ – आन्तरिक (मन की वासनाओं का) त्याग और बाह्य (भोग्य विषयों का) त्याग – वैराग्यवान व्यक्ति के लिये ही सम्भव हो पाता है। विरागी व्यक्ति मोक्ष की प्रबल इच्छा से आन्तरिक एवं बाह्य आसक्तियों का त्याग कर देता है।

बहिस्तु विषयैः सङ्गं तथान्तरहमादिभिः ।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः।।३७३।।

अन्वय – तु विरक्तः ब्रह्मणि निष्ठितः एव बहिः विषयैः तथा अन्तः अहमादिभिः संगं त्यक्तुं शक्नोति।

अर्थ – केवल विरागी ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति ही बाह्य (भोग्य) विषयों के प्रति आसक्ति और अहंकार (तथा राग-द्वेष) आदि आन्तरिक आसक्ति का त्याग कर सकता है।

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्
पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं
ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति ।।३७४।।

अन्वय – (हे) विचक्षण, त्वम् विजानीहि – वैराग्य-बोधौ पुरुषस्य पक्षिवत् पक्षौ। ताभ्यां विना विमुक्ति-सौधाग्र-तल-अधिरोहणं अन्यतरेण न सिध्यति।

अर्थ – हे विचारशील वत्स, जान रखो कि वैराग्य और बोध (विवेक) साधक के लिये पक्षी के दो पंखों के समान हैं। इन दोनों के बिना, इनमें से केवल एक के द्वारा मुक्ति-रूपी भवन के सर्वोच्च तल पर आरोहण करना सम्भव नहीं है।

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः
समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्ति-
र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः।।३७५।।

अन्वय – अत्यन्त-वैराग्यवतः समाधिः, समाहितस्य एव दृढ-प्रबोधः, प्रबुद्ध-तत्त्वस्य हि बन्ध-मुक्तिः, मुक्तात्मनः नित्य-सुखानुभूतिः ।

अर्थ – अत्यन्त वैराग्यवान् साधक को ही समाधि होती है, समाधिवान् व्यक्ति का ही तत्त्वज्ञान दृढ़ होता है, तत्त्वज्ञानी को ही संसार-बन्धन से मुक्ति मिलती है और ऐसे मुक्त पुरुष को ही चिरन्तन सुख की अनुभूति होती है।

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-
स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्यसाम्राज्यधुक् ।
एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ।।३७६।

अन्वय – वश्यात्मनः वैराग्यात् परं सुखस्य जनकं न पश्यामि, तत् चेत् शुद्धतर-आत्मबोध-सहितं-स्वाराज्य-साम्राज्यधुक्, यस्मात् अजस्र-मुक्ति-युवतेः एतत् परं द्वारम्, अस्मात् त्वं सर्वत्र अस्पृहया सदा श्रेयसे सदा-आत्मनि प्रज्ञां कुरु।

अर्थ – संयमी व्यक्ति के लिये वैराग्य से बढ़कर दूसरा कोई भी सुख का साधन मेरे देखने में नहीं आता। यह वैराग्य यदि अति शुद्ध आत्मबोध से जुड़ा हो, तो उससे स्वाधीन साम्राज्य का सुखभोग होता है। चूँकि यह चिरंतन मुक्ति-रूपी युवती तक ले जाने का श्रेष्ठ द्वार है, अतः तुम सभी अवस्थाओं में स्पृहा-राहित्य की सहायता से नित्य श्रेयस् अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हेतु सर्वदा अपनी प्रज्ञा को आत्मा में स्थापित करो।

आशां छिन्द्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः कृति-
स्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चातिदूरात्क्रियाः ।
देहादावसति त्यजात्मधिषणां प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि
त्वं द्रष्टास्यमनोऽसि निर्द्वयपरं ब्रह्मासि यद्वस्तुतः।।३७७।।

अन्वय – विष-उपमेषु विषयेषु आशां छिन्धि, एषा एव मृत्योः कृतिः। जाति-कुल-आश्रमेषु अभिमतिं त्यक्त्वा क्रियाः अतिदूरात् मुञ्च। असति देह-आदौ आत्मधिषणां त्यज। आत्मनि प्रज्ञां कुरुष्व यत् त्वं वस्तुतः द्रष्टा असि, अमनः असि, निर्द्वयपरं ब्रह्म असि।

अर्थ – विष के तुल्य भोग्य विषयों की आशा को छिन्न कर डालो, क्योंकि यह मृत्यु का रूप है। जाति, कुल, आश्रम का अभिमान त्यागकर सकाम कर्मों को बहुत दूर से छोड़ दो। मिथ्या देह आदि में आत्मबुद्धि का त्याग करो। अपनी प्रज्ञा को आत्मा में स्थिर करो, क्योंकि तुम स्वरूप से द्रष्टा मात्र हो, मन के भी अतीत हो और अद्वय परब्रह्म हो। ❖ (क्रमशः) ❖

मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार परिषद का अर्धवार्षिक सम्मेलन सुसम्पन्न हुआ

२२-२३ सितम्बर, २०१२ को रामकृष्ण सेवा समिति, कोनी, बिलासपुर (छ.ग.) में मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द भावप्रचार परिषद की अर्धवार्षिक सभा सम्पन्न हुयी। २२ सितम्बर को प्रथम सत्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी, स्वामी व्याप्तानन्द जी, स्वामी राघवेन्द्रानन्द जी और स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने भावधारा की विशिष्टता पर अपने व्याख्यान दिये। द्वितीय सत्र में सभी प्रतिनिधियों को महिला आइ.टी.आई का परिदर्शन, रतनपुर महामाया और खूटाघाट का भव्य दर्शन कराया गया।

२३ सितम्बर को स्वशासी केन्द्रों के प्रतिवेदन प्रस्तुति और अन्य विषयों पर चर्चा की गयी। इस सभा में – युवकों को जोड़ने, विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन करने, विवेकानन्द-रथ निकालने, प्रत्येक केन्द्र का इतिहास प्रकाशित करने, विवेकानन्द साहित्य का प्रचार करने, एक स्मारिका प्रकाशित करने तथा केन्द्रों द्वारा वर्तमान में चल रहे एवं भविष्य में किये जाने वाले कार्यक्रमों की रिपोर्ट बनाकर बेलूड़ मठ भेजने का परामर्श दिया गया। परिषद के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया ने विभिन्न योजनाओं से अवगत कराया तथा परिषद के सभी सदस्यों ने उनका सब प्रकार से सहयोग करने की घोषणा की।

शाम ६ बजे रेलवे इंस्टीट्युट, बिलासपुर में स्वामीजी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी, स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी, डॉ. ओमप्रकाश वर्मा और रेलवे के अधिकारी श्री कुप्पु स्वामी ने सभा को सम्बोधित किया।

इसमें ११ केन्द्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा पंजीकृत ६६ प्रतिभागी उपस्थित थे।

विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर (छत्तीसगढ़) में विश्वभ्रातृत्व दिवस मनाया गया

११ सितम्बर, २०१२ को विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा और पं. रविशंकर विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा योजना के संयुक्त तत्त्वावधान में विद्यापीठ के सभागार में विश्वभ्रातृत्व दिवस मनाया गया, जिसमें छत्तीसगढ़ के महामहिम राज्यपाल श्री शेखर दत्त, विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर एस. के. पाण्डेय, आदिमजाति कल्याण मंत्री श्री केदार कश्यप, विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा और राज्य सम्पर्क अधिकारी श्री समरेन्द्र सिंह आदि ने भाग लिया।

आध्यात्मिक साधना शिविर आयोजित की गयी

६, ७ तथा ८ अक्तूबर, २०१२ को विवेकानन्द विद्यापीठ कोटा में त्रिदिवसीय आध्यात्मिक साधना शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें कई राज्यों के भक्तों ने भाग लिया। शिविर का निर्देशन स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी, स्वामी निखिलात्मानन्द जी और स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने किया।

६ अक्तूबर की शाम को स्वामी आत्मानन्द स्मृति व्याख्यान में 'स्वामी विवेकानन्द का जीवन और चिन्तन' नामक विषय पर उपरोक्त संन्यासियों एवं स्वामी व्याप्तानन्द जी के व्याख्यान हुये। स्वामी निखिलात्मानन्द जी और पूर्वमंत्री श्री भूपेश बघेल ने स्वामी आत्मानन्द जी के संस्मरण सुनाये।

८ अक्तूबर की शाम को वृन्दावन हॉल में भी सभा का आयोजन किया गया।

युवा सम्मेलन का आयोजन

१५ और १६ सितम्बर को रामकृष्ण मिशन इन्सटिट्यूट ऑफ कल्चर में भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के आर्थिक सहयोग से ग्रामीण और आदिवासी युवकों हेतु द्विदिवसीय युवा-सम्मेलन का आयोजन किया गया। प्रथम सत्र का उद्‌घाटन रामकृष्ण संघ के महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी, पश्चिम बंगाल के मंत्री डॉ. अमित मित्र ने किया। स्वामी सर्वभूतानन्द जी ने सबका स्वागत किया। अन्य सत्रों में रामकृष्ण संघ के सहायक सचिव, स्वामी सुवीरानन्द जी, स्वामी ईशात्मानन्द जी, स्वामी शिवप्रदानन्द जी, पश्चिम बंगाल के मंत्री श्री मदन मित्र और श्री अरूप विश्वास ने युवकों के सम्बोधित किया।

डिस्पेन्सरी भवन का उद्‌घाटन

३१ अगस्त, २०१२ को रामकृष्ण मिशन आश्रम, मालदा में नवनिर्मित तिन मंजिल डिस्पेन्सरी भवन का उद्‌घाटन रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ न्यासी एवं रामकृष्ण मिशन, काशीपुर उद्यान के अध्यक्ष स्वामी वागीशानन्द जी महाराज ने किया तथा इस उपलक्ष्य में आयोजित एक सार्वजनिक सभा को सम्बोधित किया।

❑ ❑ ❑